हमसफ़र एवरेस्ट

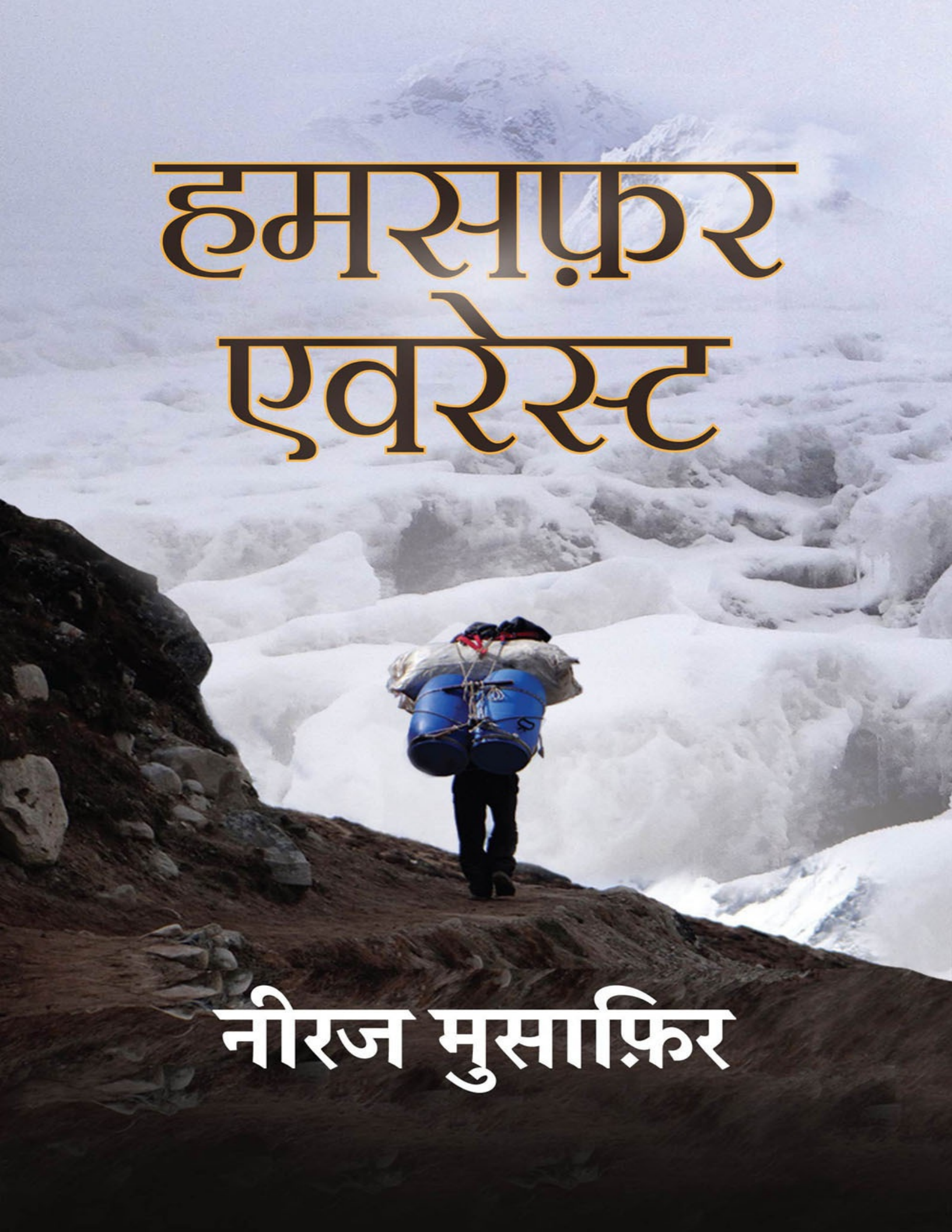

नीरज मुसाफ़िर

हमसफ़र एवरेस्ट

एवरेस्ट बेस कैंप और गोक्यो झीलों की यात्रा-कथा

हमसफ़र एवरेस्ट

नीरज मुसाफ़िर

हिन्द युग्म
hindyugm.com

ISBN: 978-93-84419-88-2

प्रकाशक:
हिन्द-युग्म
201 बी, पॉकेट ए, मयूर विहार फ़ेस-2, दिल्ली-110091
मो.- 9873734046, 9968755908

आवरण एवं भीतरी छायाचित्र: नीरज मुसाफ़िर
कला-निर्देशन: विजेंद्र एस विज

पहला संस्करण: नवम्बर **2017**

© नीरज मुसाफ़िर

Hamsafar Everest
(A travelogue by *Neeraj Musafir*)

Published By
Hind Yugm
201 B, Pocket A, Mayur Vihar Phase 2, Delhi-110091
Mob: 9873734046, 9968755908
Email: sampadak@hindyugm.com
Website: www.hindyugm.com

First Edition: Nov 2017

प्रस्तावना

अगर आप स्थापित लेखक नहीं हैं तो यक़ीन मानिए कि पुस्तक का पहला शब्द लिखना सबसे मुश्किल कार्य होता है। घंटों बैठकर सोचना पड़ता है, मग़ज़मारी करनी पड़ती है कि शुरुआत कैसे करें। कई दिनों से विचार कर रहा था इस बड़े काम को शुरू करने का। आख़िरकार आज मंगलवार के दिन इस मंगल कार्य का मंगलाचरण कर ही दिया।

मुझे ध्यान नहीं पड़ता कि पहली बार एवरेस्ट का नाम मैंने कब सुना था। लेकिन बहुत दिनों तक यही मानता रहा कि यह भारत में है। जब पहली बार पता चला कि एवरेस्ट नेपाल में है, बड़ा दुःख हुआ। दुनिया की सबसे ऊँची चोटी भारत में होनी चाहिए थी; यही सोचा करता था। तेनजिंग साहब का नाम सुना। हिलेरी साहब का नाम सुना। क़िस्से पढ़े उनके, बड़ा रोमांचित हुआ। और इसी दौरान पता नहीं कब इच्छा होने लगी कि मैं भी जाऊँगा एक दिन वहाँ। एवरेस्ट पर चढ़ूँगा।

फिर धीरे-धीरे समझ बढ़ने लगी। घूमना शुरू किया तो पहाड़ों का अनुभव होने लगा। ऊँचाइयों और बर्फ़ की सच्चाई पता चलने लगी और एवरेस्ट पर चढ़ने की इच्छा कब समाप्त हो गई, यह भी पता नहीं चला।

एक दिन मित्र विधान ने अपने चिर-परिचित अंदाज में फ़ोन किया – “ओए चौधरी, यार काला पत्थर चलते हैं किसी दिन।”

“कहाँ है यह?”

“वो तू पता कर। टी.वी. में प्रोग्राम आ रहा था, अच्छा लगा।”

वह तो इतना कहकर खिसक गया, लेकिन मुझे काम मिल गया कि काला पत्थर कहाँ है? इंटरनेट ... और ढूँढ़ते-ढूँढ़ते पहुँच गया नेपाल के सुदूर इलाक़े तिब्बत सीमा के एकदम पास। तो काला पत्थर यहाँ है! फ़ोटो देखे, बड़े अच्छे लगे। जाने का रास्ता देखने लगा तो पता चला कि एवरेस्ट बेस कैंप भी इसके पास में ही है।

एवरेस्ट बेस कैंप? अब ध्यान काला पत्थर से हटकर एवरेस्ट बेस कैंप पर जा लगा। विधान ने इसके बाद कभी काला पत्थर का ज़िक्र नहीं किया, लेकिन मुझे एक लक्ष्य मिल गया। एवरेस्ट पर तो मुझे चढ़ना नहीं है, लेकिन बेस कैंप जाया जा सकता है। ऊँचाई थी 5300 मीटर से थोड़ी-सी ज़्यादा। एवरेस्ट से संबंधित एक-दो किताबें भी मिलीं। बचेन्द्री पाल जी की भी किताब मिली, ‘एवरेस्ट-मेरी शिखर यात्रा’ लेकिन इनमें बेस कैंप के बारे में कोई जानकारी नहीं थी। इनका एवरेस्ट वृत्तांत बेस कैंप के बाद ही आरंभ होता है।

हिमालय में एक-से-एक ऊँची चोटियाँ हैं। ये चोटियाँ हमेशा से ही पर्वतारोहियों को लुभाती रही हैं। पर्वतारोही इन पर चढ़ते हैं। लेकिन यह इतना सरल नहीं होता। बड़े-बड़े ग्लेशियर पार करने होते हैं, पत्थर से भी कठोर बर्फ़ पर कई-कई सौ मीटर ऊर्ध्वाधर चढ़ना

होता है। बर्फ़ पर चलना, बर्फ़ पर सोना, सब-कुछ बर्फ़ पर। फिर तूफ़ान और हिम-स्खलन जैसी आपदाओं का भी डर। ऐसे अभियानों में कई-कई दिन लग जाते हैं। पहले थोड़ा-सा ऊपर चढ़ते हैं, फिर नीचे आ जाते हैं, फिर और ऊपर चढ़ते हैं, फिर थोड़ा-सा नीचे आ जाते हैं। इससे शरीर ऊँचाई का अभ्यस्त होने लगता है। रास्ते में कई कैंप बनाए जाते हैं, जहाँ राशन आदि एकत्र कर लिया जाता है।

लेकिन ऐसी जगहें आबादी से बहुत दूर दुर्गम स्थानों पर होती हैं। इसलिए एक ऐसा स्थान चुना जाता है, जिसे 'आधार' माना जा सके। जो बाक़ी जगहों के मुक़ाबले ज़्यादा सुरक्षित भी हो। राशन और ज़रूरी उपकरण आदि यहीं एकत्र कर लिए जाते हैं और धीरे-धीरे आवश्यकता पड़ने पर ऊपर ले जाए जाते हैं। ऐसे स्थानों को 'बेस कैंप' कहते हैं। प्रत्येक चोटी का एक 'बेस कैंप' होता है। दुर्गम स्थानों में होने के बावजूद भी 'बेस कैंपों' तक पहुँचना उतना मुश्किल नहीं होता और एक ट्रैकर आराम से यहाँ पहुँच सकता है। बेस कैंपों से आगे अत्यधिक कठोर माहौल होता है और उस माहौल में जीने के लिए और जाने के लिए आपको पर्वतारोहण का प्रशिक्षण लेना आवश्यक होता है। इसलिए बेस कैंप से आगे चोटी तक केवल पर्वतारोही ही जाते हैं। ज़्यादातर लोग ट्रैकर्स होते हैं, पर्वतारोही नहीं होते। प्रशिक्षित नहीं होते और सबसे बड़ी बात, ऐसे अभियान के भारी-भरकम ख़र्च को वहन नहीं कर सकते। ट्रैकिंग में न आपको किसी प्रशिक्षण की ज़रूरत है और न ही भारी-भरकम ख़र्च करने की। थोड़े-से कपड़े और खाना अक्सर रास्ते में मिल ही जाता है। आप किसी भी चोटी के बेस कैंप तक आसानी से जा सकते हैं। इसीलिए ट्रैकिंग में बेस कैंप का बड़ा महत्व है।

एवरेस्ट बेस कैंप भी ऐसी ही एक ट्रैकिंग है। एवरेस्ट नेपाल और तिब्बत की सीमा पर स्थित है। इसलिए ज़्यादातर पर्वतारोही नेपाल से चढ़ाई करते हैं और कुछ तिब्बत से। नेपाल में भी एक एवरेस्ट बेस कैंप है और तिब्बत में भी। चूँकि चीन के क़ब्ज़े के कारण तिब्बत जाना उतना आसान नहीं है, इसलिए ज़्यादातर ट्रैकर्स नेपाल वाले बेस कैंप को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं। नेपाली बेस कैंप तक पहुँचने के लिए बहुत लंबी पदयात्रा करनी पड़ती है। जबकि उधर तिब्बती बेस कैंप तक चीन सड़क भी बना चुका है और रेल भी बना रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक इसी बात को ध्यान में रखकर लिखी गई है कि आपको नेपाल स्थित एवरेस्ट बेस कैंप के बारे में अधिकाधिक जानकारी मिल सके। साथ ही, यह एक यात्रा-वृत्तांत भी है जिसमें यात्रा के दौरान हमारी मनोदशा और 'तनोदशा' पर भी विस्तार से लिखा गया है। जिस तरह प्रत्येक पर्वतारोही का स्वप्न होता है एवरेस्ट की चोटी तक जाना, उसी तरह प्रत्येक ट्रैकर का स्वप्न होता है इसके बेस कैंप तक जाना। मैं स्वयं भी एक ट्रैकर हूँ इसलिए बेस कैंप जाने की इच्छा रखने वाले प्रत्येक ट्रैकर के लिए यह पुस्तक बेहद उपयोगी साबित होगी। लेकिन यदि आप ट्रैकर नहीं भी हैं तब भी पुस्तक आपको बाँधे रखेगी और आप आख़िरी पन्ने तक रोमांच का एहसास करते रहेंगे।

नीरज मुसाफ़िर

पग-पग

योजना और तैयारी
यात्रा का आरंभ
अकबरपुर से फ़ैज़ाबाद
नेपाल में प्रवेश
काठमांडू
पशुपति दर्शन और आगे प्रस्थान
दुम्जा से फाफलू
फाफलू से ताकशिंदो-ला
ताकशिंदो-ला से जुभिंग
जुभिंग से बुपसा
बुपसा से सुरके
सुरके से फाकडिंग
फाकडिंग से नामचे बाज़ार
नामचे बाज़ार से डोले
डोले से फंगा
फंगा से गोक्यो
गोक्यो और गोक्यो-री
गोक्यो से थंगनाग
थंगनाग से ज़ोंगला
ज़ोंगला से गोरकक्षेप
एवरेस्ट के चरणों में
थुकला से नामचे बाज़ार

नामचे बाज़ार से छेपलुंग
छेपलुंग से खारी-ला
खारी-ला से नुनथला
नुनथला से ताकशिंदो-ला
ताकशिंदो-ला से घुर्मी
भारत माता की जय

योजना और तैयारी

मैं योजनाएँ बनाने में विश्वास नहीं रखता। योजना बनाने का अर्थ है कि आपको प्रस्थान का एक दिन निर्धारित करना पड़ेगा, एक बजट निर्धारित करना पड़ेगा। जैसे-जैसे दिन पास आता जाता है, दबाव और तनाव बढ़ता जाता है और आप पाते हैं कि आपकी तैयारी अभी पूरी नहीं हुई है। सबसे बुरी बात तो तब होती है, जब यात्रा योजनानुसार शुरू करने के बाद आपकी बनी-बनाई योजना बिगड़ने लगती है और कई अनचाही और अनजानी बातें सामने आने लगती हैं। आप लेट होते चले जाते हैं और इसकी भरपाई करने के लिए 'दौड़ना' शुरू कर देते हैं। इस 'दौड़ने' में आप यात्रा का वो आनंद नहीं ले पाते, जिसकी आप कल्पना किया करते थे।

मैं योजना बनाने से ज़्यादा तैयारी करने में विश्वास रखता हूँ। आप अपनी तरफ़ से तैयार रहेंगे, तो एक मौक़ा आएगा और आप निकल जाएँगे। एवरेस्ट बेस कैंप के लिए आपको तीन तरह की तैयारियाँ करनी होती हैं जिन्हें मानसिक, शारीरिक और आर्थिक तैयारियाँ कह सकते हैं। किसी भी यात्रा के लिए मेरा ज़ोर मानसिक तैयारी पर ज़्यादा रहता है। इसमें उस इलाक़े की अधिक-से-अधिक जानकारी हासिल करना शामिल है। मसलन भूगोल, रास्ता, मौसम आदि। इसके अलावा जो भी कुछ हासिल कर सकते हैं, करिए। यह एक ऐसी चीज़ है जिसे एक बार हासिल कर लिया, आप ता-उम्र नहीं भूलेंगे। आपको जितनी ज़्यादा जानकारी होगी, मुश्किल हालातों में यह उतनी ही काम आएगी। एक रास्ते से आप जा रहे हैं, किसी वजह से वह बंद हो जाता है तो आप मान लेते हैं कि या तो आपकी यात्रा ख़राब हो गई, या फिर आप फँस गए। लेकिन अगर आपकी अच्छी तैयारी है, तो आप वैकल्पिक रास्ता ढूँढ़ लेंगे।

मुझे मैप-रीडिंग का, मानचित्रों को देखने-पढ़ने-समझने का बड़ा शौक़ है। बचपन से ही यह शौक़ रहा है। अब तो गूगल मैप का ज़माना है, तो यह शौक़ अपने चरम पर है। मैं स्वयं भी गूगल मैप में मैप एडिटिंग करता रहता हूँ और ऐसे नये रास्ते जोड़ता रहता हूँ जो गूगल मैप में नहीं होते। इसलिए मुझे इसकी ख़ूबियों और ख़ामियों का अच्छी तरह पता है। इसकी सबसे बड़ी ख़ामी कुछ समय पहले तक यह थी कि यह सुविधा बंदर के हाथ में उस्तरा पकड़ा देने के बराबर थी। कोई भी गूगल मैप में रास्ते जोड़ सकता था। अब आप उस रास्ते को अपने कंप्यूटर में या मोबाइल में देखकर उसी से जाने की योजना बनाएँगे। लेकिन वहाँ जाकर पता चलेगा कि रास्ता तो है ही नहीं। हालाँकि बड़े पैमाने पर इस तरह की शिकायतें गूगल को प्राप्त हुई हैं, इसलिए अब ऐसा करने पर थोड़ी सख़्ती है। लेकिन फिर भी ग़लत रास्ते गूगल मैप में अभी भी बनाए जा सकते हैं। कुल मिलाकर गूगल मैप आँख मीचकर भरोसा करने की चीज़ नहीं है। और दुर्गम इलाक़ों में तो क़तई नहीं।

बेस कैंप जाने वाले अधिकांश ट्रैकर्स काठमांडू से लुकला तक वायुयान से जाते हैं। लुकला सड़क मार्ग से नहीं जुड़ा है। मेरी इच्छा वायुमार्ग से जाने की नहीं थी। अब दूसरा विकल्प था- जीरी से ट्रैक आरंभ करना। जीरी सड़क मार्ग से जुड़ा है और काठमांडू से जीरी तक सीधी बस भी चलती है। गूगल मैप में जीरी से आगे शिवालय तक भी सड़क दिखाई गई है। तो शिवालय में सड़क है या नहीं, इसका पता गूगल मैप के सैटेलाइट मोड से चला। पक्का हो गया कि शिवालय तक मोटर मार्ग है। शिवालय से आगे सड़क की जानकारी नहीं मिल सकी। इसका अर्थ है कि पैदल यात्रा शिवालय से आरंभ करनी पड़ेगी। शिवालय समुद्र तल से 1800 मीटर ऊपर है। इसके बाद चढ़ाई है जो 2700 मीटर की ऊँचाई पर देउराली में समाप्त होती है। इसके बाद फिर 1500 मीटर की ऊँचाई तक नीचे उतरना होता है और आप चौलाखर्क पहुँच जाते हैं। चौलाखर्क से चढ़ाई दोबारा आरंभ होती है और 3550 मीटर ऊँचे लामजुरा पास पर जाकर समाप्त होती है। लामजुरा पास से फिर आप 2600 मीटर की ऊँचाई तक नीचे उतरते हैं, फिर 3000 मीटर तक ऊपर चढ़ते हैं और आख़िर में थोड़ा नीचे उतरकर 2600 मीटर की ऊँचाई पर स्थित रिंगमो पहुँच जाते हैं।

अगर आप शिवालय से ट्रैकिंग आरंभ करते हैं और आपकी सेहत भी अच्छी है और ट्रैकिंग का पुराना अनुभव भी है, तब भी आपको शिवालय से रिंगमो तक पहुँचने में कम-से-कम पाँच दिन तो लगेंगे ही। पाँच दिन ही वापसी के समय रिंगमो से शिवालय और जीरी तक मानकर चलिए। इस तरह जीरी और रिंगमो के बीच आपके दस दिन ख़र्च होंगे। याद रहे, रिंगमो पहुँचने के बाद भी एवरेस्ट बेस कैंप 100 किलोमीटर से ज़्यादा रह जाता है।

हम अपने ये दस दिन ख़र्च नहीं करना चाह रहे थे। हमें न फ़्लाइट से जाना था और न ही जीरी से। बेस कैंप जाने वाले 99 प्रतिशत से ज़्यादा ट्रैकर्स इन दोनों रास्तों का ही प्रयोग करते हैं, इसलिए इंटरनेट पर इन दोनों रास्तों के ख़ूब वृत्तांत भी मिल जाते हैं।

तीसरा विकल्प ढूँढ़ा जाने लगा, जो जल्दी ही मिल गया। यह था फाफलू तक सड़क से जाना और उसके बाद पैदल। गूगल मैप में फाफलू और उससे 13 किलोमीटर आगे रिंगमो तक सड़क दिखाई गई है। जी हाँ, यह वही रिंगमो है, जहाँ जाने के लिए जीरी से पाँच दिन लगते हैं। सैटेलाइट से देखा तो रिंगमो में सड़क होने और न होने का संदेह बना रहा। लेकिन फाफलू में सड़क थी। इंटरनेट पर फाफलू में सड़क होने के बारे में कोई यात्रा-वृत्तांत ढूँढ़ा, लेकिन नहीं मिला। बेस कैंप जाने वालों में एक प्रतिशत से भी कम लोग फाफलू मार्ग का प्रयोग करते हैं, उनमें से कितने अपना वृत्तांत लिखेंगे? बहुत दिनों तक कोई वृत्तांत नहीं मिला। लेकिन एक दिन मिल गया। उनकी लुकला से काठमांडू की फ़्लाइट बुक थी और दो दिन बाद काठमांडू से अपने देश जाने की भी बुकिंग थी। लेकिन लुकला में उस दिन मौसम ख़राब हो गया और सभी उड़ानें रद्द हो गईं। उन्हें अपने देश जाने की चिंता होने लगी। तब वे दो दिनों तक पैदल चलते हुए फाफलू आए। फाफलू में भी हवाई अड्डा है, लेकिन मौसम अभी तक ख़राब था। फिर वे उसी रात सड़क मार्ग से काठमांडू के लिए निकल गए। बाद में लिखा था कि सड़क बहुत ख़राब थी।

इससे एक चिंता तो दूर हुई कि फाफलू तक मोटर मार्ग है। लेकिन चूँकि उन्होंने ख़राब सड़क के बारे में भी बताया था, इसलिए अब इस गणना में लग गया कि कितनी दूरी तक

ख़राब सड़क है? किस लेवल तक ख़राब है? क्या उस पर बसें भी चलती हैं या केवल जीपों या एस.यू.वी. के लायक़ ही है? इस बात का मुझे कभी पता नहीं चल सका। लेकिन सुकून इस बात का था कि फाफलू तक हम सड़क मार्ग से जा सकते हैं और शायद रिंगमो तक भी चले जाएँ। इससे निश्चित तौर पर हमारे शिवालय-रिंगमो मार्ग के आने-जाने के दस दिन बचेंगे। जब हमें फाफलू तक बस के जाने के बारे में पता नहीं चल सका तो अपनी मोटरसाइकिल ले जाने का निर्णय लिया। यह मार्ग यदि इतना ख़राब भी हुआ कि बसें नहीं चल सकतीं, लेकिन जीपें चल सकती हैं, तो मोटरसाइकिल भी चली जाएगी। मोटरसाइकिल के पक्ष में दूसरी बात यह भी थी कि एवरेस्ट बेस कैंप समुद्र तल से लगभग 5300 मीटर की ऊँचाई पर स्थित है। मैंने 5000 मीटर से ऊपर पहले दो बार ट्रैकिंग कर रखी है, लेकिन दीप्ति तो कभी 3700 मीटर से ऊपर ही नहीं गई। हम हमेशा से ही अपनी सेहत के प्रति बिल्कुल भी गंभीर नहीं रहे। सुबह देर से उठना और दिन-भर कुर्सी पर बैठे रहना। यही हमारी दिनचर्या थी। हम दोनों का वजन अब तक का अधिकतम वजन था। मैं अपने टायर बन चुके पेट को लेकर चिंतित रहता, तो दीप्ति अपने बढ़ते वजन को लेकर। हम केवल चिंतित ही रहते, कभी गंभीरता से इसे कम करने का प्रयत्न नहीं करते। तो इस समय हमारे सामने यह भी संभावना थी कि शायद हम बेस कैंप तक न पहुँच पाएँ। यक़ीन मानिए, 3000 मीटर से ऊपर जाने पर आपको 'हाई माउंटेन सिकनेस' का असर दिखने लगता है। 4000 मीटर तक तो आप स्पष्ट रूप से इसे महसूस भी करते हैं और 5000 मीटर तक वायुमंडल में हवा आधी रह जाती है और कई बार तो शरीर भी आपका कहा नहीं मानता। बड़ा रो-रोकर आगे बढ़ना पड़ता है।

तो एक संभावना यह भी थी कि शायद मैं या दीप्ति या हम दोनों बेस कैंप तक न जा पाएँ। इस परिस्थिति में हम लौट आएँगे और अपनी बची हुई छुट्टियाँ बाक़ी नेपाल घूमने में बिताएँगे, बाइक से।

यह मार्च 2016 का पहला सप्ताह था और हमें अप्रैल के पहले सप्ताह में दिल्ली से चल देना था। हम अपनी तरफ़ से पूरी तरह तैयार थे और एक-एक दिन कम होते गिन रहे थे। लेकिन मार्च के आख़िरी सप्ताह में एक ऐसा काम याद आ गया जो पूरा करना बेहद आवश्यक था। यह था अपने ऑफ़िस से 'एक्स-इंडिया लीव' लेना। प्रत्येक सरकारी कर्मचारी को भारत से बाहर जाने के लिए अपने विभाग में एक निर्धारित प्रारूप में फ़ॉर्म भरकर देना होता है। इस पर आखिरी में निदेशक के हस्ताक्षर होते हैं, तभी आप भारत से बाहर जा सकते हैं। नेपाल जाने के लिए हम भारतीयों को किसी भी तरह के वीजा या पासपोर्ट या परमिट की आवश्यकता नहीं होती, लेकिन अपने ऑफ़िस में यह औपचारिकता पूरी करनी होती है। यह केवल ऑफ़िस के अंदर की बात होती है, बाहर इसके होने या न होने का कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। इसके लिए कम-से-कम 15 दिन पहले आवेदन करना होता है। लेकिन यात्रा में अब एक ही सप्ताह बचा था। इतने कम समय में यह औपचारिकता होनी मुश्किल थी। इसलिए अप्रैल के पहले सप्ताह में जाना रद्द कर दिया।

इसका हमें कोई दुःख नहीं था। ये सब यात्राओं के आवश्यक भाग होते हैं। यात्राओं से हमें सबसे पहली सीख यही मिलती है कि किसी भी परिस्थिति के लिए हमेशा तैयार रहो।

परिस्थिति धीरे-धीरे बने या अचानक आ पड़े, आपको सावधान भी रहना है और सामना करने को तैयार भी। यह भी यात्रा का ही एक हिस्सा था।

अब सबकुछ एक महीना आगे खिसक गया। सोचने-समझने व और ज़्यादा तैयारियाँ करने के लिए हमें अब एक महीने का समय और मिल गया था। यह एक अच्छा संकेत था। अब फिर से अपनी पूरी ऊर्जा मानचित्रों को देखने-समझने में लगा दी। ख़ासकर सोलूखुंबू के मानचित्र को। एवरेस्ट बेस कैंप और ट्रैकिंग का पूरा मार्ग सोलूखुंबू ज़िले में आता है।

मुझे झीलें बहुत पसंद हैं, ख़ासकर 4000 मीटर से ऊपर की झीलें। आप भी जाना कभी किसी ऐसी ही झील के किनारे, दीवाने हो जाओगे। सोलूखुंबू का अध्ययन करते समय एक तो दूधकुंड झील दिखी और दूसरी गोक्यो झीलें। दूधकुंड हमारे ट्रैकिंग पथ से ज़्यादा दूर नहीं है। तीन दिन अतिरिक्त लगेंगे और हम दूधकुंड भी देख आएँगे। उधर गोक्यो झीलों ने मुझे बहुत बड़ा लालच दे दिया। यहाँ पास-पास ही पाँच झीलें हैं। बेस कैंप के अलावा 6-7 दिन और लगेंगे, गोक्यो झीलों तक जाने और वापस आने में।

नामचे बाज़ार से थोड़ा-सा ऊपर दो नदियाँ मिलती हैं। एक है दूधकोशी और दूसरी है इम्जा खोला। दूधकोशी की ऊपरी घाटी में गोक्यो झीलें हैं, जबकि इम्जा खोला की ऊपरी घाटी में एवरेस्ट बेस कैंप। दोनों के मिलन-स्थल के पास से ही एक धार ऊँची उठती चली जाती है और 6000 मीटर से भी ऊपर जा पहुँचती है। यही धार इन दोनों घाटियों को अलग रखती है। इसी पर ताबो-चे (6300 मीटर) और चोला-चे (6350 मीटर) नामक चोटियाँ भी हैं। इसी धार पर अगर और उत्तर में चलते जाएँ तो एक जगह यह धार 5350 मीटर तक आ जाती है। यह चो-ला दर्रा है। गोक्यो से अगर आपको बेस कैंप जाना है, तो यह दर्रा अवश्य पार करना पड़ेगा, अन्यथा पहले दक्षिण में फुरचे (**Phortse**) तक जाओ और फिर इम्जा खोला की घाटी में उत्तर-पूर्व में चढ़ो। कम-से-कम 40 किलोमीटर का अतिरिक्त चक्कर।

दर्रे पार करना एक रोमांचक अनुभव होता है। फिर इतना ऊँचा दर्रा, 5300 मीटर से भी ज़्यादा, पार करना तो निश्चित ही रोमांच की पराकाष्ठा होगी। मैं भी चाहता था कि चो-ला को पार करेंगे। लेकिन जिस एक बात से मुझे डर लग रहा था, वो था मई का महीना। मई के महीने में बर्फ़ मिल जाया करती है और यह बर्फ़ कम-से-कम पिछले छ: महीनों से यहाँ पड़ी-पड़ी काफी कठोर हो चुकी होती है। मुझे चो-ला दर्रे का कोई आइडिया तो नहीं था, लेकिन गूगल मैप के 'टैरेन' मोड में जब देखा कि 5000 मीटर के बाद 300 मीटर तक बेहद खड़ा ढाल है, तो इसे पार करने की मेरी इच्छाएँ पस्त होने लगीं। तीन बातें यहाँ लागू होंगी- खड़ा ढाल, अत्यधिक ऊँचाई और कठोर बर्फ़। ऐसे में मैं इसे क़तई पार करने वाला नहीं था। गोक्यो भी जाएँगे, बेस कैंप भी जाएँगे, लेकिन चो-ला पार नहीं करेंगे।

इतनी तैयारियाँ करने के बाद एक चीज़ और रह जाती है, और यह है मौसम। मौसम आपकी ऐसी यात्राओं में बेहद अहम रोल निभाता है। ऊँचाई वाले इलाक़ों में दोपहर बाद मौसम ख़राब हो जाया करता है, यह सर्वविदित और सर्वव्यापी है। उधर मानसून के आने में महीना-भर बाक़ी था और पश्चिमी विक्षोभ मृतप्राय: हो चुका था। इसलिए मौसम ख़राब होने की संभावना नहीं थी। लेकिन यह मध्य हिमालय है। मेरा सारा अनुभव

पश्चिमी हिमालय का रहा है। मध्य और पूर्वी हिमालय के मुक़ाबले पश्चिमी हिमालय में गर्मियों में बारिश कम होती है। इसलिए मौसम ख़राब होने की संभावना से इनकार भी नहीं किया जा सकता।

थोड़ी देर पहले बताया था कि तीन तरह की तैयारियाँ करनी होती हैं - मानसिक, शारीरिक और आर्थिक। अभी तक हमने मानसिक तैयारी के बारे में ही जाना। अब थोड़ा अपनी शारीरिक तैयारियों के बारे में बताता हूँ।

हम दोनों एक नंबर के आलसी जीव हैं। व्यायाम हमारी दिनचर्या में कभी शामिल ही नहीं रहा। हमने सोचा था कि इस ट्रैक पर जाने से एक महीने पहले हम व्यायाम आरंभ कर देंगे, लेकिन ऐसा कभी नहीं हुआ। मेरा पेट भी क़ाफी निकल चुका था। 9 अप्रैल को मैं 78 किलो का था और दीप्ति 59 किलो की। यह हम दोनों का आज तक का अधिकतम वजन था। चिंतित होना लाज़िमी था, लेकिन आलसी होने के कारण इसकी तरफ़ कभी ध्यान नहीं दिया। लेकिन फिर भी यक़ीन था कि हम बेस कैंप तक आराम से पहुँच जाएँगे। इस तरह का यक़ीन तो वैसे सभी को होता है, लेकिन बाद में पता चलता है कि हम कितने लायक़ हैं।

ऐसे में मेरे लिए जो सबसे बड़ी सकारात्मक बात थी, वो यह थी कि मुझे पहले इतनी ऊँचाई पर ट्रैकिंग का अनुभव था। मैं कई बार 4000 मीटर से ऊपर ट्रैक कर चुका था और दो बार तो 5000 मीटर से भी ऊपर। तो यह जानने के बाद कि बेस कैंप 5300 मीटर के आसपास है, मुझे किन-किन चुनौतियों का सामना करना पड़ेगा, काफ़ी हद तक पता था। अगर आपने 4000 मीटर से ऊपर कोई ट्रैक कर रखा है, तो आप काफ़ी कुछ जान जाते हैं। यह कोई पक्का नियम तो नहीं है, लेकिन बेस कैंप जाने वाले प्रत्येक ट्रैकर के लिए पूर्व में 4000 मीटर से ऊँचा कोई ट्रैक कर लेना अच्छा रहता है। दीप्ति इससे पहले केवल 3700 मीटर तक ही गई थी, इसलिए मैं उसकी तरफ़ से थोड़ा चिंतित भी था।

जिसने कभी भी ट्रैकिंग नहीं की, उसके लिए 4000 मीटर तक के ट्रैक उत्तम रहते हैं। आपको 4000 मीटर से ऊपर जाना है, तो 4000 मीटर से नीचे के किसी ट्रैक का अनुभव ज़रूरी हो जाता है। इसी तरह यदि 5000 मीटर से ऊपर जाना है, तो 5000 मीटर से नीचे तक का अनुभव अच्छा रहता है। यह कोई लिखित नियम नहीं है, लेकिन अपनी ही सुरक्षा के लिए बहुत उत्तम चीज़ है। आपने कभी ट्रैकिंग नहीं की और आप सीधे 4000 मीटर से ऊपर ट्रैकिंग करने लगे, तो काफ़ी संभावना है कि नहीं कर पाएँगे। कोई अपवाद ही ऐसा कर सकता है। आप ए.एम.एस. यानी एक्यूट माउंटेन सिकनेस के बारे में कितना भी पढ़ लें, इससे बचने के कितने भी तरीक़े जान लें, लेकिन अगर कभी अनुभव नहीं किया है तो सब बेकार है।

ज़रा सोचिए, आपने पढ़ रखा है कि ऊँचाई पर जाने पर ऑक्सीजन कम हो जाती है, सिर में दर्द होता है, चक्कर आते हैं, उल्टी भी हो जाती है, नाक से ख़ून भी आ सकता है। इनसे बचने के तरीक़े भी आपने पढ़ रखे हैं। मसलन, ऊँचाई छोड़कर निचले इलाक़े में चले जाना चाहिए, ख़ूब पानी पीना चाहिए, खाना खाना चाहिए, डायमॉक्स लेनी चाहिए, आराम करना चाहिए। लेकिन अगर आपका यह सब करने का मन ही नहीं है, सामने दिख

रहे बर्फ़ीले पहाड़ या ख़ूबसूरत झील आपको अच्छे नहीं लग रहे हैं, न खाना खाने का मन है, न पानी पीने का, न वापस जाने का- तो आप क्या करेंगे? मन नहीं है, इससे बचने के तरीक़े आप केवल और केवल तभी जानेंगे, जब स्वयं अनुभव करने लगेंगे। बेस कैंप जैसी बड़ी और ख़र्चीली जगह पर जाने से पहले यह अनुभव आपको हो जाना चाहिए। इसलिए पहले किसी दूसरी इससे कम ऊँचाई वाली जगह पर जाकर अनुभव कर आना चाहिए कि जब 'मन नहीं है' तो क्या होता है। ऊँचाइयों पर यह सबसे बुरी बात होती है। आपका मन नहीं है, तो आप किसी की भी बात नहीं मानेंगे। सामने वाला आपकी हालत देखकर कुछ सलाह देगा, तो काफ़ी संभावना है कि आप उससे झगड़ पड़ेंगे। ए.एम.एस. के बारे में आपकी सब पढ़ाई, सब तैयारियाँ धरी-की-धरी रह जाएँगी।

ट्रैकिंग से संबंधित तीसरी तैयारी है आर्थिक। मैंने सुन रखा था कि इस रास्ते में हर जगह खाने-पीने की सुविधा उपलब्ध है, लेकिन अत्यधिक महँगी। हमें वहाँ पंद्रह दिन से ज़्यादा बिताने थे, इसलिए मैं जान लेना चाहता था कि दाल-भात कितने का मिलता है? नेपाल में दाल-भात हर जगह खाया जाता है तो यह अपेक्षाकृत सस्ता होना चाहिए। पता चला कि निचले इलाक़ों में एक प्लेट दाल-भात सस्ता मिलेगा और जैसे-जैसे ऊपर चढ़ते जाएँगे, यह महँगा होता जाएगा। यहाँ तक कि 800 रुपये प्रति प्लेट तक भी। यदि हम 600 का औसत भी मानकर चलें या 500 का भी मानकर चलें तो हम दोनों का एक समय का केवल दाल-भात का ही ख़र्च 1000 से ऊपर हो जाएगा। ट्रैकिंग में हमें ज़्यादा भोजन की आवश्यकता होती है, दिन में दो समय भरपेट भोजन तो करना ही होगा, साथ में चाय आदि भी लेने पड़ते हैं। इसलिए कम-से-कम 2500 रुपये प्रतिदिन केवल खाने के ही ख़र्च होंगे। यानी 15 दिन की ट्रैकिंग के दौरान लगभग 38000 नेपाली रुपये केवल खाने पर ही ख़र्च होने हैं। इसके अलावा रात रुकने के लिए कमरा भी लेना होगा, जिसके बारे में पता चला कि 300-400 तक में आराम से मिल जाता है, यानी इस दौरान लगभग 5000 रुपये के कमरे। इनके अलावा लगभग 5000 रुपये के टिम्स कार्ड और सागरमाथा नेशनल पार्क का प्रवेश शुल्क भी लगेगा। माने लगभग 48000 नेपाली रुपये अर्थात 30000 भारतीय रुपये का ख़र्च 15 दिन की ट्रैकिंग के दौरान ही होगा। किसी वजह से ट्रैकिंग के दिन बढ़ गए, तो यह ख़र्च भी बढ़ जाएगा। इसके अलावा दिल्ली से फाफलू तक जाने और आने का ख़र्च अलग से। कुल मिलाकर 40000 भारतीय रुपये से भी ज़्यादा का ख़र्च होगा हम दोनों का।

हमें अगर केवल बेस कैंप तक ही जाना होता तो 30000 रुपये तक में आराम से निपट जाता, लेकिन गोक्यो जाने से यह ख़र्च 40000 को पार कर जाता। इतनी बड़ी धनराशि का इंतज़ाम करना थोड़ा मुश्किल होता है। बहुत-से लोग ऐसी यात्राओं के लिए प्रायोजक ढूँढ़ते हैं। मुझे न तो प्रायोजक ढूँढ़ने की कला आती है और न ही मैं इतनी भागदौड़ करना चाहता। चूँकि मोटरसाइकिल से जाने का इरादा बन गया था, तो थोड़ी तैयारियाँ मोटरसाइकिल की भी करनी जरूरी थीं। सबसे पहली तैयारी होती है, सर्विस कराना। फिर एक दिन धीरज को भेज दिया करोल बाग़ और वह इसमें पिंजरा लगवा लाया। यह पिंजरा बुलेट के लिए पहले ही डिजाइन किया होता है, लेकिन थोड़े-से मॉडीफिकेशन से यह हमारी बाइक, बजाज डिस्कवर 150 सी.सी., में भी फ़िट हो गया। इसके 2500 रुपये ज़रूर लगे, लेकिन अब हमें सामान बाँधने की कोई परेशानी नहीं आएगी।

हमारे पास वैसे तो टैंक बैग भी है, जो मोटरसाइकिल की टंकी पर फ़िट हो जाता है, लेकिन हमने इसे न ले जाने का फ़ैसला किया। हमने वही सामान लिया, जो केवल ट्रैकिंग में काम आएगा। हम नहीं चाहते थे कि कोई सामान हमें बाइक के साथ फाफलू में छोड़ना पड़े। टैंक बैग ले जाते तो यह हमें अवश्य छोड़ना पड़ता।

दो जोड़ी साधारण कपड़े और एक जोड़ी गर्म कपड़े लिए। गर्म कपड़ों में इनर, लोवर, जुराबें, मंकी कैप, मफ़लर और एक जैकेट। गर्म कपड़ों की ज़रूरत केवल ट्रैकिंग के दौरान ही पड़ेगी। साथ ही रेनकोट भी ले लिए। हालाँकि मई का महीना है, लेकिन हमें ख़ूब बारिश भी मिलेगी।

टैंट भी ले जाने का इरादा बना, कम-से-कम 5000 रुपये तो बचेगे, लेकिन फिर सोचा कि 250 किलोमीटर से भी ज़्यादा का ट्रैक है, तो क्यों साढ़े तीन किलो का टैंट ढोएँ? जहाँ इतने पैसे ख़र्च हो रहे हैं, वहाँ 5000 और सही। स्लीपिगं बैग रख लिया। वैसे तो पूरे ट्रैक के दौरान रुकने की कोई दिक़्क़त नहीं आती, लेकिन एक ट्रैकर को हमेशा स्लीपिगं बैग तो साथ रखना ही चाहिए। पता नहीं कहाँ कैसी परेशानी आ जाए। हालाँकि हमें इसकी आवश्यकता नहीं पड़ी। स्लीपिगं बैग लिया तो मैट्रेस भी ले ली और ट्रैकिंग स्टिक भी।

तो जी, यह थी हमारी चलने से पहले की तैयारी। मैंने इसमें अपना ट्रैकिंग का पूरा अनुभव झोंक दिया था। यह एक बड़ा काम था। प्रत्येक ट्रैकर का सपना होता है, कम-से-कम एक बार एवरेस्ट बेस कैंप तक जाने का। नौकरी वाले के लिए छुट्टियाँ निकालना मुश्किल होता है और ख़र्चीला ट्रैक तो यह है ही। मुझे चार सप्ताहों की छुट्टियाँ भी मिल गई थीं और पैसों का इंतज़ाम भी हो गया था। अब भी अगर हम बेस कैंप न जा पाएँ तो ज़िंदगी में ऐसा मौक़ा पता नहीं दोबारा आए या न आए, कौन जानता है?

यात्रा का आरंभः पहला दिन

9 मई 2016 था, दिन सोमवार था और सुबह के नौ बजे थे। बाइक पर एक तरफ़ एक बैग, दूसरी तरफ़ दूसरा बैग और पीछे तीन मैट्रेस बाँध दीं। यह दीप्ति के लिए एक 'सिंहासन' बन गया था। अब ड्राइवर साहब बाइक चलाते रहेंगे और वह पीछे आराम से बैठकर दोनों बैगों पर अपनी कोहनी टिकाकर पीछे कमर लगाकर बेफ़िक्र होकर बैठ सकती थी और नींद भी ले सकती थी। उधर जयपुर से देवेंद्र कोठारी जी भी चल पड़े थे। वे भी बेस कैंप तक जाएँगे। कुछ दिन पहले जब उन्होंने मुझसे कहा कि वे भी साथ चलेंगे, तो मैंने उन्हें सीधा-सपाट उत्तर दिया, "आप मत चलो।" कारण पूछा तो बताया, "पता नहीं। लेकिन मन नहीं मान रहा।" बोले, "जहाँ तक जा सकूँगा, जाऊँगा। फिर वापस आ जाऊँगा। तुम्हारे ऊपर किसी तरह का बोझ नहीं बनूँगा।" अब इसके बाद तो कुछ कहने की ज़रूरत ही नहीं थी। वे नियमित जिम जाने लगे थे और पहाड़ों की ऊँचाइयों पर बाइक चलाने का उन्हें अच्छा अनुभव था। दिक़्क़त इस बात की थी कि उन्होंने कभी ट्रैकिंग नहीं की थी। इतनी ऊँचाई पर बाइक चलाने और ट्रैकिंग करने में ज़मीन-आसमान का अंतर होता है। आपको बस बाइक के कान उमेठने होते हैं और बाक़ी काम बाइक कर देती है, लेकिन पैदल चलने में आप पूरे उमठ जाते हैं, तब भी काम नहीं बनता।

हालाँकि कोठारी जी एक हठी इंसान हैं। पीछे हटना नहीं जानते। पिछले साल जब हम लद्दाख जा रहे थे, तो मुझे यक़ीन था कि सिंथन टॉप के ख़राब रास्ते को देखकर वे घबरा उठेंगे। लेकिन मैं हैरान रह गया, जब उन्होंने कहा- "सिंथन टॉप पर बाइक चलाने में आनंद आ गया।" इसके बाद जब श्रीनगर में हम बिछुड़ गए, तो मुझे शत-प्रतिशत यक़ीन था कि वे वापस जयपुर चले जाएँगे, लेकिन कुछ दिन बाद लेह के होटल में रजिस्टर में जब उनका नाम लिखा देखा तो मेरे आश्चर्य की सीमा नहीं रही। तब मुझे पता चला कि कोठारी जी कोई छुई-मुई नहीं हैं। वे आख़िरी साँस तक हिम्मत दिखाएँगे। इस बार मैंने कह तो दिया कि आप मत जाओ, लेकिन मन का एक कोना कह भी रहा था, "हो सकता है कि हम न पहुँच पाएँ, लेकिन कोठारी जी पहुँच जाएँगे।"

हरी झंडी दिखाने वालों में पिताजी थे, धीरज था और सासू जी थीं यानी दीप्ति की मम्मी। हालाँकि हरी झंडी कहीं नहीं थी, लेकिन सभी ने आपस में 'राम राम-राम राम' कर ली तो हरी झंडी मिल गई। ठीक सवा नौ बजे बाइक स्टार्ट हो गई, पहला गियर डाल दिया और एक लंबी यात्रा के लिए थोड़ी-सी रेस बढ़ाकर क्लच छोड़ दिया। यह थी हमारी इस यात्रा की शुरुआत।

नेपाल में प्रवेश को लेकर हम थोड़े किंकर्तव्यविमूढ़ भी थे। कभी मन करता बनबसा से जाएँ और कभी मन करता सोनौली से जाएँ। लेकिन जब हम गाज़ियाबाद की तरफ़ न

जाकर नोएडा की तरफ़ चल दिए, तो पक्का हो गया कि नेपाल में प्रवेश सोनौली से करेंगे। शास्त्री पार्क से यमुना के किनारे-किनारे सीधी सड़क है जो अक्षरधाम मंदिर के सामने से होती हुई सीधे नोएडा चली जाती है। इधर-उधर कहीं नहीं मुड़ना होता और ठीक 40 किलोमीटर के बाद यमुना एक्सप्रेस-वे का स्वागत द्वार दिख जाता है।

यमुना एक्सप्रेस-वे बेहद शानदार बना है, लेकिन एक कारण से यह बदनाम भी है। आठ लेन की सड़क है और महँगा टोल लगने की वजह से कोई ट्रैफ़िक भी नहीं होता। इसलिए ख़ासकर कार वाले अपनी कार की रफ़्तार जाँचते हैं। और इसीलिए यह हाईवे बदनाम है। इसके कारण टायर गर्म हो जाते हैं, उनके अंदर की हवा भी गर्म हो जाती है, गर्म होने के कारण फैलती है। अंदर दाब बढ़ता है और टायर फट जाता है। इसलिए जगह-जगह चेतावनी भी लिखी है कि टायरों की हवा चेक कर लें और निर्धारित गति से ज़्यादा गाड़ी न चलाएँ। हालाँकि यह कहीं नहीं लिखा कि निर्धारित गति कितनी है।

यह मार्ग तारकोल का न बनकर कंक्रीट का बना है। इसमें अवश्य कोई उच्च सिविल इंजीनियरी रही होगी, लेकिन इसके कारण सड़क 'बंपी' हो गई है। और जहाँ भी कहीं पुल या पुलिया हैं, वहाँ 'बंप' बहुत ज़्यादा है। यात्री को झटका लगता है। यह भी इसका एक नकारात्मक पहलू है। अन्यथा निर्माण के दौरान ही यह सड़क इतनी विश्वस्तरीय बनाई जा सकती थी कि सौ की स्पीड से चलती कार में लबालब भरा हुआ गिलास न छलके। अब तो हालत यह है कि आधा भरा गिलास भी थोड़ी ही देर में औंधे मुँह गिर पड़ेगा।

लेकिन इसके बावजूद भी यहाँ बाइक चलाने का अलग ही आनंद है। बिना किसी परेशानी के 80-90 की स्पीड से बाइक चलती रही। इससे ज़्यादा तेज़ चलाई भी नहीं। हर थोड़ी- थोड़ी दूरी पर एक स्टाफ़ बैठा रहता है, ताकि किसी आपातकाल में वह सहायता कर सके। जेवर में टोल बूथ आया। आगरा तक का 175 रुपये का टोल लगा। इससे पहले बाइक का मैंने कभी भी टोल लगता नहीं देखा था। 175 रुपये बाइक का टोल काफ़ी महँगा तो था, लेकिन पैसा-वसूल भी था। यह मार्ग नया-नया बना है। जिस इलाक़े से होकर यह गुज़रता है, वह उत्तर प्रदेश का ऐसा इलाक़ा है, जहाँ ढंग के रास्ते तक नहीं हैं। सीमावर्ती इलाक़ा है और ऐसे इलाक़े अक्सर प्रशासन को दिखते भी नहीं हैं। अभी भी सड़क से लगते हुए दूर-दूर तक खेत-ही-खेत आपको दिखेंगे, कोई व्यावसायिकता नहीं। लेकिन वह दिन दूर भी नहीं है। ज़मीन के भाव बढ़ने लगे हैं और अधिग्रहण भी होने लगा है। दोआब की यह ज़मीन बेहद उपजाऊ है, लेकिन जल्द ही नोएडा से लेकर आगरा तक की यह बेल्ट एक व्यावसायिक बेल्ट बनने वाली है।

आगरा शहर में न जाकर इटावा की तरफ़ मुड़ गए और वहीं एक ढाबे पर पेड़ की छाँव में बैठकर कढ़ी-चावल खाने लगे और जयपुर से आने वाले कोठारी जी की प्रतीक्षा भी करने लगे। कढ़ी बेहद ज़ायक़ेदार बनी थी। थोड़े-से चावल खाते और कढ़ी पर कढ़ी माँगने लगते। ढाबे वाले ने उलाहना दिया कि ऐसा नहीं हुआ करता। मैंने समझाया, "भाई जी, कढ़ी बहुत अच्छी बनी है। हमारे मित्र एक घंटे बाद आएँगे। तब तक हमें बस कढ़ी ही खिलाते रहो। जो पैसे बनेंगे, बता देना। हम दे देंगे।" इसके बाद उसने कुछ नहीं कहा। बिल आया मेरा और दीप्ति दोनों का 190 रुपये।

दो बजे कोठारी जी आए। खाना खाने लगे तो मैंने पूछ लिया, “कर सकोगे?” बोले, “मेहनत तो बहुत कर रखी है। स्लीपिंग बैग पैक करना सीख लिया है, टैंट बाँधना सीख लिया है और मोटरसाइकिल पर सामान बाँधना भी। फिर भी अगर नहीं हो सकेगा, तो वापस आ जाऊँगा।” मैंने कहा, “हो जाएगा। आप देखते रहना।”

अकबरपुर से शैलेश प्रताप सिंह जी का आग्रह हुआ कि मैं रात उनके यहाँ रुकूँ। यहाँ से अकबरपुर लगभग सवा दो सौ किलोमीटर दूर है। यानी लगभग 5 घंटे लगेंगे। गर्मी अपने चरम पर थी। लेकिन जब तक हम यू.पी. में रहेंगे, तब तक गर्मी इसी तरह परेशान करती रहेगी। नेपाल में प्रवेश करने के बाद भी हालाँकि दो-तीन दिनों तक कोई ज़्यादा अंतर तो नहीं पड़ेगा, लेकिन पर्वतीय वातावरण होने से मन भी लगा रहेगा व थोड़ा-सा अंतर भी पड़ेगा।

दो बजकर पचास मिनट पर यहाँ से चल दिए। अब सड़क चार लेन की हो गई थी और ट्रैफ़िक भी बढ़ गया था। इसलिए चौकस होकर चलना पड़ रहा था। कोठारी जी मुझसे तेज़ बाइक चलाते हैं, इसलिए वे आगे निकल गए। और आगे निकलकर जाएँगे भी कहाँ? कहीं रुक जाएँगे और प्रतीक्षा करेंगे।

आधे घंटे में ही फ़िरोज़ाबाद आ गया। यहाँ चूड़ियों की भरमार थी। ठेलों पर चूड़ियाँ। रंग-बिरंगी भी और बेरंगी भी। इधर से उधर ले जाई जा रही थीं। चूड़ियाँ देखते ही दीप्ति का मन डोल गया। पूछने लगी, “हम वापस इधर से ही आएँगे क्या?” मैंने कहा, “नहीं, वापस बनबसा से निकलेंगे। “यह सुनकर चुप हो गई। इधर से आने की बात पूछने का अर्थ था कि वापसी में यहाँ से चूड़ियाँ ख़रीदेंगे। अब फ़िलहाल तो ख़रीद नहीं सकते। फिर कैमरा लेकर फ़ोटो खींचने को कहने लगी। मुझे संकोच होता है ऐसे स्थानों पर बड़े कैमरे से फ़ोटो लेने में। पता नहीं क्यों?

थोड़ा ही आगे शिकोहाबाद है। यहाँ आकर सारी गर्मी छूमंतर हो गई। जी ख़ुश हो गया। कुछ देर पहले बारिश हुई थी और अभी भी सड़कें गीली थीं व कहीं-कहीं पानी भी भरा था। वातावरण में ठंडक हो गई थी। बाइक चलाना अच्छा लगने लगा।

इटावा से कपिल चौबे जी का फ़ोन आ गया, “नीरज भाई, चाय-पानी पीकर जाना।” हमें वैसे भी इटावा में चाय-पानी पीना था, इस आग्रह को तुरंत स्वीकार कर लिया। भोजन करने के बाद अब तक सौ किलोमीटर आ चुके थे। बाईपास पर चौबे साहब मिल गए। सोशल नेटवर्क का यह बड़ा लाभ है। आप एक ज़िम्मेदार और सामाजिक जीव की तरह व्यवहार करते हैं; तो देश भर में, यहाँ तक कि विदेशों तक में भी आपके मित्र बनते चले जाते हैं। हालाँकि अभी भी फ़ेसबुक आदि के मित्रों को आभासी मित्र कहा जाता है, लेकिन ऐसा नहीं है। आप स्वयं को एक ज़िम्मेदार इंसान समझते हैं, तो दूसरे भी आपको ज़िम्मेदार समझेंगे और आपका स्वागत करने को तत्पर रहेंगे। फ़िरोज़ाबाद में भी कुछ मित्र थे और इस सड़क से थोड़ा हटकर भरथना में भी। लेकिन उन्हें समझाना पड़ा कि आज नहीं आ सकते।

इटावा के पास ही यमुना बहती है और थोड़ी ही दूर चंबल भी है। चौबे जी ने अगली बार आने को कहा, “इधर घूमने को बहुत कुछ है। यमुना- चंबल का सगंम एक विशिष्ट

सगंम है। चंबल के अलावा सिंध, पाहुज और क्वारी नदियाँ भी यमुना में मिलती हैं।” क्वारी को कुँवारी भी कहा जा सकता है। मुझे याद आया कि इस नाम की नदी तो उधर मुरैना के पास भी बहती है और एक रेलवे स्टेशन का नाम सिकरौदा क्वारी भी है। चौबे साहब ने बताया कि यह वही नदी है। यह मेरे लिए आश्चर्य की बात थी, क्योंकि इस नदी का पथ चंबल के साथ-साथ ही है और इन दोनों के बीच की दूरी एक किलोमीटर से लेकर 10 किलोमीटर तक ही रहती है। विंध्य की नदियों पर अलग से एक शोध की आवश्यकता है। बहुत सारी मज़ेदार बातें सामने आएँगी।

तो आधा घंटा चौबे जी के साथ बैठकर चाय-समोसे खाकर आगे चल दिए। चौबे जी ने आगाह कर दिया कि इटावा से निकलकर औरैया और अकबरपुर तक का इलाक़ा ठीक नहीं है। पहली बात तो कहीं रुकना मत और अगर रुकना भी पड़े तो औरैया में फ़लाँ नाम का होटल है, वहाँ चाय-वाय ले लेना। इटावा में हमने बाइक की टंकी फुल कराई और आगे चल दिए। 12.23 लीटर पेट्रोल आया। दिल्ली से अब तक 327 किलोमीटर चल चुके थे। इसका अर्थ है कि लगभग 27 किलोमीटर प्रति लीटर का औसत। ये अच्छे संकेत नहीं थे। 150 सी.सी. की यह बाइक ऐसी शानदार सड़कों पर कुछ ही महीने पहले 60 तक का औसत दे दिया करती थी। अब अचानक ऐसा क्या हो गया कि औसत आधे से भी कम रह गया? इसका एक कारण तो यमुना एक्सप्रेस हाईवे पर 90 की लगातार रफ़्तार से चलना है। और फिर बाइक में भी कोई न कोई बात जरूर है। यह यात्रा ठीक निपट जाए, वापस लौटकर बाइक को दिखवाऊँगा। हालाँकि दो दिन पहले सर्विस कराई थी, लेकिन शोरूम वाले कैसी सर्विस करते हैं, यह सबको पता है।

इटावा से आगे 6 लेन की सड़क है। और ट्रैफ़िक बिस्कुल भी नहीं। बूँदाबाँदी तो नहीं हुई, लेकिन मौसम हमेशा ऐसा बना रहा जैसे दस मिनट पहले ही बंद हुई हो।

ठीक आठ बजे अकबरपुर पहुँच गए। शैलेश जी ने पहले ही कह दिया था कि फ़्लाईओवर पर न चढ़कर नीचे ही रहना। यहीं वे लेने आ गए। अकबरपुर कानपुर देहात ज़िले का मुख्यालय है। कलक्ट्रेट के पास झाँसी रोड पर उनका घर था। ए.सी. चल रहा था। इसमें कहने की तो बात ही नहीं है कि हम बेहद थके थे। पिछले 11 घंटे में 445 किलोमीटर बाइक चलाई थी। भले ही सड़क शानदार हो और हम रुकते-रुकते चल रहे हों, लेकिन फिर भी ऐसे में शाम तक भयंकर थकान हो जाती है। धूल से सने हुए गंदे कपड़े थे और हम ए.सी. का एहसास होते ही दौड़कर कमरे में सोफे पर जा पसरे। हमारी हालत ऐसी थी कि हमें महसूस ही नहीं हुआ कि शैलेश जी हम गंदों को ऐसे पसरे देखकर क्या सोच रहे होंगे?

शैलेश जी से कानपुर के बारे में ख़ूब बातें हुईं। ग़ौरतलब है कि कानपुर एक ऐसा शहर है जो निरंतर पतन की ओर उन्मुख होता जा रहा है। दिल्ली-कोलकाता राजमार्ग पर एक महत्वपूर्ण स्थान पर होने के बावजूद भी अब कानपुर में वो बात नहीं रही, जिसके लिए यह जाना जाता था। और यही बात अकबरपुर में भी देखी जा सकती है। अकबरपुर से एक राजमार्ग दिल्ली जाता है; एक राजमार्ग कोलकाता की ओर जाता है और एक राजमार्ग झाँसी होते हुए मध्य, पश्चिम व दक्षिण भारत की ओर जाता है। लेकिन यहाँ भी वो बात नहीं दिखती, जो दिखनी चाहिए थी। उजाड़-सा शहर है अकबरपुर भी।

ख़ैर, हमें नेपाल जाना है, एवरेस्ट बेस कैंप जाना है और हम यहाँ कानपुर-अकबरपुर की बदहाली लिखने बैठ गए। कुछ मित्र शिकायत करेंगे कि वे बेस कैंप की गाथा पढ़ने को उत्सुक हैं और उन्हें कानपुर की गाथा क्यों पढ़ाई जा रही है? तो जी, उत्तर यह है कि सीधे बेस कैंप की गाथा लिखी भी नहीं जा सकती। लिख भी देंगे, तो आप पढ़ नहीं सकेंगे। घर से निकल पड़े हैं, पहुँचते-पहुँचते ही पहुँचेंगे। रास्ते भी महत्वपूर्ण होते हैं। हिमालय की शीतलता तो पता नहीं कब मिलेगी, मिलेगी भी या नहीं। लेकिन फ़िलहाल रास्ते का आनंद लेते चलिए। महसूस कीजिए आप अपनी सहनशक्ति की हद तक थके हुए हैं। अचानक ए.सी. मिल जाता है, ठंडे पानी से शॉवर के नीचे नहाना मिल जाता है, चार तरह की सुस्वादु सब्ज़ियों के साथ रोटियाँ मिल जाती हैं, आपका हाल-चाल पूछने वाला, उत्साहवर्धन करने वाला और बतियाने वाला एक मित्र व उसका परिवार मिल जाता है।

यह क्या आनंद और सुकून का चरम नहीं है? या यात्रा का हिस्सा नहीं है?

दूसरा दिन: अकबरपुर से फ़ैज़ाबाद

10 मई 2016 और दिन था मगंलवार। आज हमारी यात्रा का दूसरा दिन था।

रात जमकर नींद आई थी। सुबह आराम से सात बजे उठे। कोठारी जी जल्दी उठ जाने वाले इंसान हैं। मैं और दीप्ति बड़े आराम से उठते-उठते ही उठते हैं। हमें आज महाराजगंज जाना था, जो यहाँ से लगभग 430 किलोमीटर दूर है। फ़ैज़ाबाद में लंच करेंगे और शाम तक आराम से महाराजगंज पहुँच जाएँगे। महाराजगंज में दीप्ति की एक बुआ मास्टरनी हैं, वह उनसे मिलते हुए जाना चाहती थी। हालाँकि हमें सोनौली में सीमा पार करनी है और महाराजगंज सोनौली रोड से 30 किलोमीटर हटकर है, इसलिए हमें आने-जाने में 60 किलोमीटर अतिरिक्त चलना पड़ेगा।

तो पौने नौ बजे चल दिए। काफ़ी दूर तक शैलेश जी छोड़ने आए। सड़क छ: लेन की है, लेकिन औद्योगिक क्षेत्र है और कानपुर से लगातार दूरी भी घटती जाती है, इसलिए पूरे रास्ते चहल-पहल मिलती है। बाइक आराम से 70 की स्पीड से चलती रही। कोठारी जी थोड़ा तेज़ चलाते हैं, इसलिए वे जल्दी ही आगे निकल गए और अदृश्य हो गए।

वैसे तो यह पूरे देश की ही समस्या है, लेकिन आबादी ज़्यादा होने के कारण यू.पी. में ज़्यादा दिखाई देती है। बाइक वाले, कार वाले और बस, ट्रक वाले भी डिवाइडर को मानते ही नहीं। काफ़ी चौड़ा और सुंदर डिवाइडर बना है, जिस पर पौधे भी लगे हैं, लेकिन स्थानीय लोग सड़क पार करने के लिए या दूसरी तरफ़ अपनी गाड़ी चलाने के लिए पहले डिवाइडर पर चढ़ते हैं और फिर उस तरफ़ उतर जाते हैं। ऐसे में कई बार हाईवे पर तेज़ गति से आ रही गाड़ी या बाइक के सामने अचानक डिवाइडर से उतरी गाड़ियाँ आ जाती हैं। ज़ोरदार ब्रेक लगाने पड़ते हैं, मन-ही-मन चार गालियाँ देनी पड़ती हैं और अधिक चौकस हो जाना पड़ता है। मुझे गुड़गाँव का एक वाक़्या याद आ गया। 2008 में जब मैं वहाँ रहा करता था तो राजीव चौक से थोड़ा-सा आगे एक बड़ा तेज़ मोड़ है। आठ लेन का एक्सप्रेस हाईवे है और गाड़ियाँ फर्राटे से उस पर चलती हैं। उस मोड़ पर अंडरपास होने के बावजूद भी सीधे डिवाइडर पर लोग जा चढ़ते और सड़क पार करते। ख़ूब दुर्घटनाएँ होतीं। फिर प्रशासन ने उस डिवाइडर पर धुर-से-धुर तक पाँच-छ: फ़ीट ऊँची मजबूत जाली लगा दी। अब करके दिखाओ यहाँ से सड़क पार।

तो कम-से-कम भारत में तो डिवाइडर ऐसे ही होने चाहिए कि कोई इन्हें आसानी से पार न कर सके। दूसरी जो सबसे बड़ी दिक़्क़त आती है, वो है ग़लत दिशा में ड्राइविंग की। ठीक तरीक़े से सड़क पर गाड़ी चलाने की ज़िम्मेदारी केवल हमारी है। लेकिन पुलिसवाले भी जब ऐसा करते दिखते हैं, तो बहुत बुरा लगता है। ख़ैर...

कानपुर शहर में न जाकर बाईपास पर चल दिए। यह चार लेन का है और ज़्यादातर

‘एलीवेटिड’ बना है। एक जगह एक कार दुर्घटनाग्रस्त होकर डिवाइडर पर चढ़ी हुई थी। इससे कुछ आगे फिर आख़िरकार हम इस दिल्ली-कोलकाता हाईवे को छोड़ देते हैं और लखनऊ की तरफ़ हो लेते हैं। यह भी काफ़ी दूर तक एलीवेटिड है और फिर गंगा-पुल है। पुल पार करते ही हम रुक गए। यहाँ तैयब ख़ान मिलेंगे।

तैयब ख़ान अपनी बेगम और बच्चे के साथ आए थे, कार से। हमने अपने अकबरपुर से चलने का समय आठ बजे बताया था, लेकिन चले पौने नौ बजे। इसलिए तैयब आठ बजे के हिसाब से यहाँ आ गए और पिछले एक घंटे से हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे। इनका यहीं कानपुर में चमड़े का कारोबार है। घर यहाँ से एक घंटे की दूरी पर है। दिल्ली में हमसे अगर कोई कहे कि आधा घंटा दूर निज़ामुद्दीन आकर मिल जाओ, तो हम नहीं जाएँगे। और एक अनजान आदमी से, जिससे कभी मिले भी नहीं, उसके लिए तो कभी नहीं। और यहाँ तैयब इतने ख़ुश थे कि मुँह से बोल भी नहीं निकल रहे थे। अपनी तरफ़ से उन्होंने केवल यही कहा, “मुझे यक़ीन नहीं हो रहा कि मैं आज आपसे मिल रहा हूँ। समझ भी नहीं आ रहा कि क्या कहूँ?” फिर भी दस-पंद्रह मिनट तक ख़ूब बातें हुईं।

वे कार में बैठे और गंगा पार करके कानपुर की ओर चले गए। हम लखनऊ की ओर चल पड़े। उन्नाव के बाद एक सड़क दाहिने जाती दिखी। उसके प्रवेश-द्वार पर लिखा था- फ़ैज़ाबाद इतने किलोमीटर। हमें तो चूँकि इस सड़क से जाना नहीं था, इसलिए सीधे चलते रहे लेकिन दीप्ति ने अचानक बड़े जोर से कहा, “रुक, रुक। फ़ैज़ाबाद वाली सड़क तो पीछे छूट गई।” मैंने उसे समझाया कि वह ग्रामीण इलाक़ों से जाने वाली स्थानीय सड़क है और उससे जाने में हमें बहुत नुक़सान है।

लेकिन साथ ही एक डर यह भी था कि कहीं कोठारी जी उसी सड़क से न चले गए हों।

लखनऊ में प्रवेश करते ही सीधे हाथ हवाई अड्डा है। इसे पार करते ही दाहिने बाईपास जाता है। यहाँ मेट्रो का काम चल रहा था। प्यास लगी थी। बीस रुपये की बोतल ख़रीदी। यह बोतल केवल ठंडी होने के कारण ख़रीदी। बड़ी भयंकर गर्मी थी और प्यास ख़ूब लग रही थी। यहाँ कोठारी जी को फ़ोन मिलाया, लेकिन उन्होंने उठाया नहीं। वे अवश्य बाइक चला रहे होंगे और उन्हें फ़ोन बजने का पता भी नहीं चल रहा होगा। आगे कहीं रुकेंगे तो हमारी ‘मिस्ड कॉल’ देखकर ‘कॉल बैक’ करेंगे।

हम बाईपास पर चल दिए। बेहतरीन चार लेन की सड़क है और ट्रैफ़िक भी बहुत कम है। इस पर पहले रायबरेली रोड का क्रॉसिंग आता है, फिर सुल्तानपुर रोड का और आख़िर में यह लखनऊ-फ़ैज़ाबाद रोड में जा मिलती है। इससे आने का बड़ा फ़ायदा यह हुआ कि हम लखनऊ के ट्रैफ़िक से बच गए। थोड़ा आगे बाराबंकी में भी बाईपास है और फिर तो सड़क से ट्रैफ़िक ग़ायब ही हो जाता है। आराम से 70-80 की स्पीड से चलते रहे। पता नहीं आपको ख़ाली चार लेन की सड़क पर 70-80 की स्पीड कम लगती है या ज़्यादा, लेकिन मुझे ऐसी सड़कों पर इसी स्पीड से चलने में सहूलियत रहती है।

जब हम फ़ैज़ाबाद से 55 किलोमीटर पहले थे, तो अपर्णा जी का ‘मैसेज’ आया कि फ़ैज़ाबाद में प्रवेश करने के बाद फ़्लाईओवर पर मत चढ़ना और शहर में आ जाना। थोड़ा आगे लाल टाइल लगा एक मंदिर मिलेगा, उससे आगे एक चौराहे पर लोहे की बनी एक

पुरानी प्रतिमा-सी है; यहाँ आकर बता देना। उधर कोठारी जी का कुछ नहीं पता। फ़ोन हमने नहीं किया। सोचा कि या तो वे फ़ैज़ाबाद फ़्लाईओवर के पास मिल जाएँगे, नहीं तो फ़ोन कर लेगे। यक़ीन था कि वे हमसे आगे ही हैं।

ठीक ढाई बजे हम उस स्थान पर थे, जहाँ से एक रास्ता फ़ैज़ाबाद शहर में जाता है और एक बाईपास पर। शहर की ओर चल दिए। लाल टाइलों वाला मंदिर पार किया और लोहे की पुरानी प्रतिमा के सामने पहुँचकर अपर्णा जी को फ़ोन कर दिया। उनके कहे अनुसार पाँच मिनट बाद ही एक लड़का मोटरसाइकिल पर आया और हम उसके पीछे-पीछे चल दिए। ज़िलाधिकारी कार्यालय के पास से दाहिने घूम गए और थोड़ा ही आगे बाएँ हाथ सरकारी क्वार्टरों के नीचे हमने स्वयं को खड़े पाया। आवारा गायों के इधर-उधर बिखरे ताज़े और बासी गोबर के बीच। बंदरों की भरमार। यहाँ हमारा इरादा केवल लंच ही करने का था, इसलिए सामान बँधा रहने में ही भलाई समझी। हालाँकि सामान खोलने में दो मिनट और बाँधने में तीन मिनट से ज़्यादा नहीं लगते, लेकिन फिर भी न हम इसे खोलना चाहते थे और न ही पुन: बाँधना। वो तो अपर्णा जी ने कहा कि सामान खोल लो, अन्यथा बंदरों को काम मिल जाएगा, तब जाकर अकल आई। सामान खोलना पड़ा।

अपर्णा जी यू.पी. सरकार के किसी विभाग में उच्च पद पर हैं। सरकारी मकान मिला हुआ है। आज इनके पड़ोसी कहीं बाहर गए हुए थे, इसलिए हमें उनके मकान में ठहरा दिया। फ़र्श पर गद्दे बिछे थे, एक पलंग भी था, कूलर लगा था। अभी दोपहर के तीन बजे थे। मई की गर्मी अपने चरम पर थी। मैं जब बेसुध होकर गद्दे पर लेटा और आँख बंद की तो महसूस हुआ कि सिर गोल-गोल घूम रहा है। फ़ैज़ाबाद से महाराजगंज 170 किलोमीटर दूर है। और अब मैं आज ही महाराजगंज जाने के बारे में बिल्कुल भी नहीं सोच रहा था। इरादा बना लिया कि आज यहीं फ़ैज़ाबाद रुकेंगे। दीप्ति को अपना इरादा बताया। उसे अपनी बुआ से मिलना ज़्यादा अच्छा लगता, लेकिन वह तुरंत मान गई।

कोठारी जी को फ़ोन किया, नहीं उठाया। इसका अर्थ है कि वे अभी भी बाइक चला रहे हैं। यहाँ पहली बार मन में खटका हुआ कि कहीं वे फ़ैज़ाबाद से आगे तो नहीं निकल गए? कानपुर बाईपास पर हम कुछ दूर तक साथ थे, फिर वे आगे निकल गए थे। उसके बाद वे नहीं मिले। हालाँकि उन्हें मालूम था कि हमें फ़ैज़ाबाद में लंच करना है। लेकिन साथ ही दूसरा एक संदेह यह भी हुआ कि कहीं वे लखनऊ शहर में तो नहीं घुस गए। एयरपोर्ट के पास मेट्रो निर्माण की वजह से सड़क पर भी बेरीकेट लगा रखे हैं, जिससे लखनऊ बाईपास का पता नहीं चलता। हो सकता है कि वे सीधे ही चलते गए हों और शहर में जा पहुँचे हों। अगर ऐसा हुआ होगा, तो वे अवश्य ही हमसे पीछे होंगे।

कुछ देर बाद उनका फ़ोन आ गया। वे फ़ैज़ाबाद में प्रवेश करने वाले थे। फिर तो जिस तरह हम अपर्णा जी के यहाँ आए या लाए गए उसी तरह वे भी आ गए। थकान उनके चेहरे पर स्पष्ट दिख रही थी और जब हमने बताया कि आज हम यहीं रुकेंगे, तो तुरंत उन्होंने भी हाँ कह दी। ऐसी भीषण गर्मी में हम 250 किलोमीटर आ गए, यही बड़ी उपलब्धि है। और हाँ, कोठारी जी लखनऊ शहर में जा घुसे थे। बाप रे! कैसे निकले होंगे वे वहाँ से! उनके स्थान पर मैं होता तो चारबाग़ में ही घंटेभर तक सिर पकड़े बैठा रहता। मुझे घने ट्रैफ़िक में

बाइक चलाना बिल्कुल भी अच्छा नहीं लगता और मई की दोपहरी में तो क़तई नहीं।

शॉवर के नीचे खड़े होकर आधे घंटे तक नहाना, स्वादिष्ट भोजन करना और कूलर के सामने बिना किसी व्यवधान के दोपहर बाद तीन-चार घंटे तक सोना। इसे कहते हैं घुमक्कड़ों का परमानंद। मैं पहली बार फ़ैज़ाबाद आया था और पहला अनुभव यही था, परमानंद का। ऐसा तो पहली बार नैनीताल जाने पर भी नहीं हुआ था। और शायद एवरेस्ट बेस कैंप जाने पर भी न हो।

यात्रा में बार-बार एवरेस्ट को याद करते रहना भी आवश्यक है। अन्यथा हमें लगेगा कि हम मूल विषय से भटक रहे हैं। यहाँ मुझे कवि बनने की हुड़क-सी लग रही है। पूरा भारत तप रहा है और हम एवरेस्ट की तरफ़ जा रहे हैं। वहाँ हमें शीतलता मिलेगी। और शीतलता भी ऐसी कि हम रजाइयाँ ओढ़कर बैठे रहेंगे और ठंड से काँपते रहेंगे। अब आप सोच रहे होंगे कि इसमें कविपने की क्या बात है? यही मैं भी सोच रहा हूँ। लेकिन अगर आप अपर्णा जी के सामने बैठे हों, तो उनकी बातें सुनकर मंत्रमुग्ध हो जाएँगे। यहीं मैंने उनके बारे में लिखा, "अपर्णा जी 'नेचर-लवर' हैं। उगता सूरज, चाँदनी रात का ऐसे वर्णन करती हैं कि अगर कविताएँ लिखने लगें तो दो साल में ही पद्मश्री मिल जाएगा।" प्रकृति-वर्णन करने में वे बिल्कुल खो-सी जाती हैं। कई बार तो वे हिमालय का ऐसा वर्णन करती हैं कि मैं सोचने लगता कि कोई इंसान बिना साँस लिए इतनी देर तक कैसे प्रकृति-चित्रण सकता है? मुझे प्रकृति-प्रेमी बहुत मिले, सबका वर्णन करने का अपना-अपना तरीक़ा है, लेकिन अपर्णा जी का तरीक़ा एकदम अनूठा है।

शाम को शाने-अवध होटल में खाना खाने गए। बताया गया, "यह फ़ैज़ाबाद का सबसे पुराना होटल है।" और यह है भी बेहद आलीशान। भला हमें यह आलीशान क्यों नही लगेगा? खाने का ख़र्च हमें करना होता, तब शायद उतना आलीशान नहीं लगता।

मेरी बाईं तरफ़ अपर्णा जी का लड़का बैठा था, आठ-नौ साल का। जब उसे प्लेट में फ्राइड राइस पकड़ाए गए तो मेरी निगाह ऐसे ही उसकी प्लेट पर भी पड़ गई। इसमें एक साबूत लाल मिर्च भी थी। कोई बात नहीं; सब खाना खाने लगे। अचानक मेरे पैर में कुछ लगा। चप्पल पहन रखी थी, इसलिए आराम से पता चल गया। झाँककर देखा तो वही समूची लाल मिर्च पड़ी हुई थी। मैं सारा माजरा समझ गया। धीरे से अपना सिर लड़के के पास ले गया और चुपके से कहा, "मिर्च नीचे नहीं फेंका करते, थाली में ही छोड़ दिया करते हैं।" उसने, "नहीं, मैंने नहीं फेंकी" कहकर बचने की कोशिश की, लेकिन जल्द ही समर्पण कर दिया, "मुझे यह अच्छी नहीं लगती।" फिर मैंने समझाया, "देखो, मेरी थाली में भी लाल मिर्च है। मुझे भी यह अच्छी नहीं लगती, लेकिन मैं इसे खाऊँगा नहीं और न ही फेंकूँगा। थाली में ही छोड़ दूँगा। तुम भी छोड़ दिया करो।"

खाना खाकर गुप्तार घाट की ओर चल दिए। अँधेरा था और घाट पर कोई भी नहीं था। सरयू भी नहीं। सरयू भी दूर-दूर ही बह रही थी। बताया गया कि मानसून में घाट भी पानी से लबालब हो जाता है। बताते हैं कि यहाँ भगवान श्रीराम ने जल-समाधि ली थी। बराबर में ही गुमनामी बाबा की समाधि है। ग़ौरतलब है कि गुमनामी बाबा को ही नेताजी सुभाष चंद्र बोस माना जाता है। उनका देहांत हुआ तो उनके सामान की जाँच चल पड़ी। जाँच का

पता नहीं खुलासा हुआ है या नहीं हुआ, लेकिन कुछ फ़ोटो वगैरा मिलने से यह पक्का हो गया कि वे ही सुभाष चंद्र बोस थे। यह बड़ी हैरानी की बात है कि जिस सुभाष बाबू ने देश के लिए इतना कुछ किया, 1947 से पहले ही आज़ादी की घोषणा कर दी, झंडा और मुद्रा तक का चलन कर दिया, वह आज़ादी के बाद गुमनामी बाबा बनकर रहा। इतने जबरदस्त व्यक्तित्व वाला इंसान अचानक कैसे गुमनामी बनकर जनता के बीच बैठा रहा, यह भी हैरानी की बात है। ख़ैर, कुछ भी हो। प्रत्येक भारतवासी के दिल में सुभाष बाबू का बेहद उच्च स्थान है।

ज़रा सोचिए, 1945 के आरंभ में सुभाष बाबू देश और दुनिया में बुलंदियों पर थे। आज़ाद हिंद फ़ौज के संस्थापक और सर्वोच्च सेनापति थे। बर्मा के रास्ते देश में प्रवेश करके अँग्रेज़ों की ऐसी-तैसी भी करनी शुरू कर दी थी। फिर जापान पर परमाणु बम से आक्रमण हुआ और आज़ाद हिंद फ़ौज पर भी इसका बहुत बुरा असर पड़ा। ठीक इसी दौरान पता नहीं क्या हुआ, कैसे हुआ कि पूरी दुनिया को सुभाष बाबू की हवाई-दुर्घटना में मृत्यु हो जाने की ख़बर मिली। इसके बाद जो भी हुआ, वो सब अटकलें ही हैं। सुभाष बाबू से संबंधित फ़ाइलों को गोपनीय बना दिया गया। इससे यह बल मिला कि कुछ तो दाल में काला है। करोड़ों देशवासियों की तरह मेरा मन भी यही कहता है कि गुमनामी बाबा ही सुभाष बाबू थे। जिसे 'राष्ट्रपिता' नहीं तो, कम-से-कम 'राष्ट्रपुत्र' जैसी कोई सम्मानित उपाधि मिलनी चाहिए थी। जिसे आजीवन प्रधानमंत्री से ऊँचा स्थान मिलना चाहिए था, उसे गुमनामी बनकर रहना पड़ा। यह सोचकर मन विषाद से भर उठा। 'यहाँ सुभाष बाबू सोए हुए हैं' ऐसे स्थान पर जाकर कौन भावुक हुए बिना रह सकेगा!

सुभाष चंद्र बोस सभी भारतीय महापुरुषों में 'एवरेस्ट' थे; वे 'सागरमाथा' भी थे और 'भारतमाथा' भी।

एवरेस्ट का भी ज़िक्र करते रहना आवश्यक है।

तीसरा दिन: नेपाल में प्रवेश

साढ़े आठ बजे फ़ैज़ाबाद से चल पड़े। हमने पिछले दो दिनों में 700 किलोमीटर बाइक चलाई, इसलिए बैठने में थोड़ी परेशानी हो रही थी। फिर भी सुबह उतनी परेशानी नहीं हुई। अब जितनी देर तक बाइक पर बैठे रहेंगे, उतनी ही परेशानी बढ़ती जाएगी। कई बार परेशानी कम करने के लिए दो-चार सेकंड के लिए ऊपर भी उठना पड़ता।

अपर्णा जी ने बताया था कि वापस तीन किलोमीटर पीछे जाना और वहाँ से बाईपास पर चढ़ जाना। यह ठीक था, नहीं तो हम फ़ैज़ाबाद शहर में इधर-उधर घूमते रहते और काफ़ी देर बाद बाहर निकल पाते। चलते समय अपर्णा जी ने शुभकामनाएँ दीं और वापसी में भी इधर से ही आने को कहा। साथ ही नेपाल पहुँचकर वहाँ का मोबाइल नंबर शेयर करने को और लगातार संपर्क में बने रहने को भी कहा, “तुम्हारे सबसे नज़दीक हम ही रहेंगे। किसी अनहोनी के वक़्त हम बहुत जल्दी नेपाल पहुँच सकते हैं।”

थोड़ा ही आगे अयोध्या है और फिर सरयू है। एक बार कल शाम को ही अयोध्या घूमने की योजना बन गई थी, लेकिन हम बहुत थके हुए थे। अपर्णा जी ने इस बारे में किसी तरह का ज़ोर भी नहीं दिया। और हमारा अयोध्या घूमने का न कल मन था, न आज मन है। सीधे चलते गए। सरयू पार कर ली। बाएँ हाथ थोड़ी ही दूर रेल का भी पुल है।

चार लेन की अच्छी सड़क जारी रहती है। हम 70-75 की स्पीड से चलते रहे। एक घंटे बाद हर्रैया में पाँच मिनट के लिए रुककर पैर सीधे किए और फिर सवा दस बजे बस्ती पार करके कैम्पियरगंज वाली सड़क पर फ़्लाईओवर के नीचे जा खड़े हुए। अब हमें यह हाईवे छोड़कर स्थानीय सड़क पर चलना था। यदि हम गोरखपुर होते हुए जाते हैं तो हमें बेहतरीन सड़क मिलेगी, लेकिन क़रीब 40 किलोमीटर ज़्यादा चलना होगा। यह बस्ती-कैम्पियरगंज सड़क कैसी है, इसकी हमें कोई जानकारी नहीं थी। यहाँ फ़्लाईओवर के नीचे खड़े होकर देखने पर यह बड़ी ही बदहाल दिख रही थी। काफ़ी देर तक माथापच्ची की कि इसी बदहाल सड़क से चलें या 40 किलोमीटर का फ़ालतू चक्कर लगाएँ। एक स्थानीय से पूछा, तो उसने बताया कि यह सड़क अच्छी ही है। हम उसकी इस बात पर मुस्कुरा दिए। हमने सोचा कि यू.पी. और देश के इस सीमावर्ती इलाक़े में शायद सड़कें ही नहीं होंगी, तभी तो यह स्थानीय इस बदहाल सड़क को भी अच्छी बता रहा है। न होने से तो कुछ होना ही अच्छा।

आख़िरकार इसी सड़क पर चल दिए। शुरू के सात किलोमीटर तक यह बड़ी ही ख़राब सड़क है। नेपाल बॉर्डर इधर से ज़्यादा नज़दीक होने के कारण ट्रकों का भी ख़ूब यातायात इधर से ही होता है। सात किलोमीटर तक यह सिंगल भी है। यानी सामने से अगर कोई आएगा तो या तो आपको बराबर में नीचे उतरना पड़ेगा या फिर उसे। फिर सात किलोमीटर के बाद दो-लेन की जो बेहतरीन सड़क आई, उसने दिल ख़ुश कर दिया। फिर तो यह बेहतरीन सड़क नेपाल सीमा तक ही बनी रही।

यहाँ पता चला कि दीप्ति की बुआ महाराजगंज में नहीं रहतीं, बल्कि फरेंदा में रहती हैं। यह सुनकर मुझे समझ नहीं आया कि ख़ुश होऊँ या ग़ुस्सा। तीन-चार दिन पहले जब दीप्ति ने मुझे बताया था कि महाराजगंज में बुआ से भी मिलकर चलना है, तो मैंने पूछा था, “महाराजगंज में कहाँ रहती हैं वे? क्योंकि महाराजगंज एक ज़िला है।” दीप्ति ने बुआ से फिर पूछा। पता नहीं बुआ ने क्या बताया; दीप्ति ने क्या सुना; जवाब मिला, “ख़ास महाराजगंज में ही।” अब ख़ास महाराजगंज जाने का अर्थ है कि पहले फरेंदा जाओ। फरेंदा हमारे नेपाल के रास्ते में ही पड़ेगा। फिर 30 किलोमीटर दूर महाराजगंज जाओ। फिर बुआ से मिलकर वापस 30 किलोमीटर फरेंदा लौटो और तब नेपाल की ओर चलो। यानी फरेंदा से 60 किलोमीटर का अतिरिक्त चक्कर।

कल हम दोपहर बाद तीन बजे फ़ैज़ाबाद पहुँच गए थे और हमारा इरादा महाराजगंज में ही रात रुकने का था। अगर हम नहा-धोकर, खा-पीकर चल पड़ते, तब भी फ़ैज़ाबाद में ही हमें पाँच बज जाने थे। बस्ती पहुँचने में सात बजते और फरेंदा पहुँचते-पहुँचते साढ़े आठ-नौ बज जाते। वहाँ से इतनी रात को हम महाराजगंज जाते, दस बजे तक पहुँचते। तब पता चलता कि बुआ तो फरेंदा में ही रहती हैं। ज़रा सोचिए, उस समय हमारी क्या हालत होती? मेरी और दीप्ति की कितनी भीषण लड़ाई मचती!

पता नहीं इसमें ग़लती किसकी है, दीप्ति की या बुआ की। लेकिन एक बात ज़रूर है। बुआ नई-नई मास्टरनी बनी हैं, मुरादाबाद की यानी पश्चिमी यू.पी. की रहने वाली हैं। पहली नौकरी और पहली ही पोस्टिंग मिली यहाँ पूर्वी यू.पी. में। पश्चिमी यू.पी. और पूर्वी यू.पी. में

सामाजिक और भाषाई अंतर इतना ज़्यादा है कि एक हिस्से में रहने वाला इंसान दूसरे हिस्से में नहीं रह सकता। न इधर का उधर रह सकता है और न उधर का इधर। बहुत बड़ी कोई मजबूरी होती है, तभी जाते हैं। बुआ स्थानांतरण की कोशिश में लगी होंगी। इसी उधेड़बुन में उन्होंने महाराजगंज या ख़ास महाराजगंज या कुछ बता दिया होगा, इसमें कोई संदेह नहीं।

कैम्पियरगंज में फाटक बंद मिला। बग़ल में ही स्टेशन है। गोरखपुर से बढ़नी जाने वाली पैसेंजर प्लेटफ़ॉर्म पर खड़ी थी। लेकिन पहले नौतनवा-गोरखपुर पैसेंजर आई, उसके बाद बढ़नी पैसेंजर गई; तब फाटक खुला।

फरेंदा बाईपास पर रुक गए। बुआ से रास्ता पूछ लिया। हमने कोठारी जी को यह तो बता रखा था कि फरेंदा रुकेंगे, लेकिन उन्हें अभी तक यह पता नहीं चला था कि बुआ महाराजगंज नहीं, बल्कि यहीं रहती हैं। इसलिए उन्होंने हमारी अब फरेंदा रुकने की बात को गंभीरता से नहीं लिया और तेज़ी से आगे निकल गए। सोनौली बॉर्डर पर ट्रांसपोर्ट का काम करने वाला उनका कोई जानकार था, उन्हें उससे मिलने की उत्सुकता थी। इधर दीप्ति को बुआ से मिलने की।

बुआ ने किराये पर एक कमरा ले रखा है। उन्होंने जाते ही कहना शुरू कर दिया, “यह इलाक़ा ऐसा है, यहाँ ये मिलता है, ये नहीं मिलता, ऐसे लोग हैं, ये चीज़ मज़ेदार है, ये चीज़ दुखी कर देती है...।” मुझे तो नींद आ गई। दोनों बुआ-भतीजियाँ नॉन-स्टॉप बतियाती रहीं। माहौल ऐसा बन गया कि मैं दीप्ति को जल्दी के लिए भी नहीं कह सकता था। खाने का समय हो ही चुका था, हमें यहीं से खाना खाकर आगे चलना था। और खाना दोनों महिलाएँ इत्मीनान से अपनी मर्ज़ी से बनाएँगी। मेरे पास सो जाने के अलावा कोई विकल्प ही नहीं था।

दो घंटे बाद तीन बजे मुझे जगाया गया, खाने के लिए। खाना मुझे परोस दिया गया, लेकिन दोनों अभी भी बतियाने में ही लगी पड़ी थीं। खाना बन भी चुका था, लेकिन उन दोनों का इसे खाने का कोई इरादा न देख मैंने पूछा, “दीप्ति, आज यहीं रुकें या आगे चलें?” दीप्ति तुरंत बोली, “रुकना नहीं है।”

“तो आधे घंटे के अंदर हमें निकल लेना है।” इतना कहना काफ़ी था। फटाफट खाना खाया। ‘विदाई प्रवचनों’ का आदान-प्रदान हुआ और ठीक साढ़े तीन बजे फरेंदा छोड़ दिया।

यहाँ से सोनौली 55 किलोमीटर दूर है। अच्छी और ख़ूब चौड़ी सड़क है, लेकिन अभी इसका निर्माण पूरा नहीं हुआ है, इसलिए कई स्थानों पर ख़राब भी है। रास्ते में भीड़ भरे कुछ गाँव और क़स्बे भी आए। आख़िर में नौतनवा आया। हम बाईपास से चल दिए। यहाँ से सीमा 7-8 किलोमीटर दूर है, लेकिन इस पूरे रास्ते ट्रक-ही-ट्रक एक लाइन में खड़े मिले। ये सभी ट्रक नेपाल सामान ले जाने वाले हैं। अब जाकर हमें महसूस होने लगा कि हम भी अपने देश से दूसरे देश में प्रवेश करने वाले हैं; जहाँ अलग माहौल होगा, अलग लोग होंगे, अलग करेंसी होगी और अलग ही मोबाइल नेटवर्क होगा।

ट्रकों की इन्हीं पंक्तियों के पीछे कोठारी जी के मित्र का ऑफ़िस था। उसने बताया कि

आप चलते रहो, बाएँ हाथ पीले रंग का एक मकान मिलेगा, काले शीशे की खिड़कियों वाला, वहीं आना है। हमारे बाएँ ट्रकों की लाइन लगी थी, फिर भी हम देखते चलते रहे और सीमा द्वार पर पहुँच गए। फिर आदेश हुआ कि एक किलोमीटर पीछे आओ। कोठारी जी हमें रोकने सड़क पर आ गए थे, अन्यथा हम एक किलोमीटर पीछे और पीले मकान के चक्कर में वापस नौतनवा पहुँच जाते।

इससे पहले हमने बाइक की टंकी फुल करा ली थी। इस बार 13.11 लीटर पेट्रोल आया। पिछली दफ़ा हमने इटावा में टंकी फुल करायी थी। हम वहाँ से 564 किलोमीटर आ गए। इसका अर्थ है कि इटावा से यहाँ तक 43 किलोमीटर प्रति लीटर का औसत आया। यह दिल्ली से इटावा के 27 के औसत से काफ़ी बेहतर है। इसका कारण यही है कि दिल्ली से इटावा की ज़्यादातर दूरी हमने 80-90 की स्पीड से तय की थी, जबकि इटावा से इधर ज़्यादातर समय 70 की स्पीड से चलते रहे। और कोई कारण नहीं था।

यह छोटी-सी बात भी औसत में कितना फ़र्क़ पैदा कर देती है!

कोठारी जी के मित्र ने हमसे पहचान-पत्र और बाइक की आर.सी. की ऑरिजिनल व फ़ोटो-कॉपी दोनों ले लिए। साथ ही दो-दो पासपोर्ट साइज़ फ़ोटो भी। हमसे कह दिया कि आप सीमा पार करके पार्किंग में रुक जाना, मैं भी आ रहा हूँ।

ठीक पाँच बजे हमने पहले द्वार को पार किया, जिस पर लिखा था- 'भारत सीमा समाप्त।' और इससे कुछ ही मीटर आगे नेपाल का द्वार था- 'वेलकम टू नेपाल।'

अभी तक हम नंदा देवी के देश में थे, अब सागरमाथा के देश में हैं। नंदा देवी को दूर से देखा है, लेकिन उसके चरणों में जाने का मौक़ा नहीं मिला। इससे पहले सागरमाथा के चरणों में जाने का मौक़ा मिल गया।

ख़ैर, कोठारी जी के मित्र भी पीछे-पीछे आ गए। सबसे पहले हमने कुछ भारतीय नोट नेपाली नोट में परिवर्तित करा लिए। 100 भारतीय रुपये 160 नेपाली रुपये के बराबर होते हैं। हालाँकि आजकल नेपाली रुपये का अवमूल्यन हुआ है और सुना है कि यह 165 रुपये तक पहुँच गया है। लेकिन १०० भारतीय रुपये, 160 नेपाली रुपये ही नेपाल में हर जगह माना जाता है। नेपाल के ज़्यादातर हिस्सों में भारतीय रुपये इसी दर से आराम से चल जाते हैं। इसके बाद नेपाली सिम लिया- एनसेल का। 130 रुपये का सिम मिला और 500 रुपये का रीचार्ज करा लिया। अब हम नेपाली रुपये में ही बात करेंगे। जहाँ लगेगा, वहाँ 'भारतीय रुपये' लिख दिया करूँगा। बताया गया कि इसका नेटवर्क सोलूखुंबू में भी अच्छा काम करेगा। सोलूखुंबू नेपाल का एक ज़िला है और इसी ज़िले में एवरेस्ट स्थित है।

इसके बाद बारी आती है बाइक का भनसार बनवाने की। भनसार अर्थात बाइक का अनुमति-पत्र। इसमें भी मित्र ने ही सारा काम किया, हम बाहर खिड़की के पास खड़े होकर देखते रहे और एक-दो जगह हस्ताक्षर करते रहे। मित्र अंदर-ही-अंदर यहाँ-से-वहाँ आना-जाना करते रहे। 26 दिन का भनसार १०० रुपये प्रतिदिन के हिसाब से 2600 रुपये का बना और 338 रुपये टैक्स लगा। यानी कुल 2938 नेपाली रुपये में हमारी बाइक 26 दिन तक नेपाल में फर्राटा भरने के लिए वैध हो गई।

इतना सब होते-होते साढ़े छः बज गए। कुछ देर बाद अँधेरा हो जाएगा। हमें बताया

गया कि वैसे तो रास्ते में रुकने की कोई दिक़्क़त नहीं है, लेकिन आप नारायणगढ़ ही रुकना, जोकि यहाँ से 120 किलोमीटर दूर है, यानी कम-से-कम तीन घंटे। यहाँ से चल दिए। चलते ही पुलिस वालों ने रोक लिया- "भनसार दिखाओ।" भनसार दिखा दिया। अब रास्ता साफ़ था। दोनों तरफ़ मुस्कानों का आदान-प्रदान हुआ और आगे चल दिए।

थोड़ा ही आगे एक चौराहा है, काठमांडू के लिए दाहिने मुड़ गए। एक किलोमीटर ही चले कि फिर से पुलिस वाले मिल गए। भारतीय नंबर प्लेट पीले या सफ़ेद रंग की होती हैं, जबकि नेपाली नंबर प्लेट काले या लाल रंग की। इसलिए दूर से ही पता चल जाता है कि भारतीय गाड़ी है। फिर से भनसार दिखाना पड़ा।

आगे चले तो भैरहवा से आती सड़क मिल गई और दाहिने मुड़ गए। बिना डिवाइडर की दो लेन की सड़क थी और अच्छी बनी थी। कुछ ही समय पहले नेपाल में नया संविधान लागू हुआ था। इसके विरोध में तराई में रहने वाले मधेशियों ने भारत-नेपाल सीमा प्रत्येक स्थान पर बंद कर दी थी। इससे नेपाल में भीषण संकट पैदा हो गया था। देश में डीजल-पेट्रोल समाप्त होने लगा था और खाने की भी दिक़्क़त हो गई थी। यहाँ सबकुछ भारत से ही आता है। हिंसा भी हुई थी। अब हम उसी 'मधेशीलैंड' से होकर गुज़र रहे थे। माओवादियों की सरकार है और नेपाल में माओवादियों का अच्छा प्रभुत्व है। भारत में भी माओवादी हैं, लेकिन इन्हें देश का दुश्मन माना जाता है। इसलिए भी नेपाल के माओवादी भारत को अच्छा नहीं मानते। यही कारण है कि उनका झुकाव चीन की तरफ़ है। लेकिन चीन की मुख्यभूमि से नेपाल बहुत दूर पड़ जाता है। इसलिए चीन न यहाँ लगातार तेल की आपूर्ति कर सकता है, न ही नियमित भोजन का प्रबंध कर सकता है और नेपालियों को रोज़गार तो क़तई नहीं दे सकता। इसलिए भारत को 'दुश्मन' जैसा मानने के बावजूद भी उन्हें भारत से हाथ मिलाए रखना पड़ता है।

सुना था कि यहाँ भारतीय गाड़ियों को रोककर पैसे दिए जाने पर छोड़ा जाता है। यह भी सुना है कि ख़ासकर तराई में भारतीयों पर हमले भी हुए हैं और गाड़ियों में तोड़फोड़ भी हुई है। इसलिए इस इलाक़े से गुज़रते हुए इसी तरह का एक अनजाना डर-सा भी बना रहा। कोई गाँव रास्ते में आता, तो हेलमेट के शीशे के पीछे से अपनी तरफ़ देख रहे किसी ग्रामीण को संदेह भरी नज़रों से देख भी लेता। यक़ीन मानिए, कोई अगर भली नीयत से भी हमें रुकने को कहता, तब भी मैं रुकने वाला नहीं था।

सवा सात बजे परासी रुके। अब तक अच्छा-ख़ासा अँधेरा हो गया था। मुझसे इस तरह की सड़कों पर रात में बाइक नहीं चलती। सामने से कोई गाड़ी आती, तो उसकी हेडलाइट चौंधिया देती है। ऊपर से हमारे हेलमेट का शीशा काला था, ताकि दोपहरी की तेज़ धूप से आँखों और चेहरे को नुक़सान न हो। यह काला शीशा रात के समय बिल्कुल बेकाम का था। इसे उठाकर चलना पड़ता। आँखों में मच्छर जा पड़ते।

कोठारी जी हमसे पीछे ही थे। हम पंद्रह मिनट यहाँ खड़े रहे, वे नहीं आए। मुझे खटका हुआ कि कहीं 'किसी' ने उन्हें रोक तो नहीं लिया। फ़ोन कर दिया, "कहाँ हो आप? सलामत तो हो? अपनी मर्ज़ी से रुके या किसी ने रोका? जल्दी आओ, आगे एक टी-पॉइंट मिलेगा, हम वहीं खड़े हैं।"

कोठारी जी आए। तब तक हम निश्चय कर चुके थे कि आज यहीं परासी में रुकेंगे। एक तो घबराहट और ऊपर से रात का समय- मैं नहीं चल सकता ऐसे में। सड़क से थोड़ा हटकर परासी बाज़ार है। एक होटल में गया, उत्तर मिला- "सब कमरे भरे हैं।" दूसरे में गया- "कोई ख़ाली नहीं है।" आख़िरकार चौथे होटल में एक कमरा मिला- नॉन ए.सी. कमरा 800 का और ए.सी. कमरा 1200 का। होटल और कमरा भभक रहे थे। इसलिए कुछ तो ए.सी. की आवश्यकता महसूस हुई और कुछ मन-ही-मन में नेपाली को भारतीय में बदलकर देख लिया- थोड़ा सस्ता लगने लगा। ए.सी. कमरा ले लिया, मोलभाव करके 1000 नेपाली का पड़ गया।

खाना अच्छा था। यहाँ पहली बार नेपाली दाल-भात खाए। अब हमें इसी 'डिश' के भरोसे यात्रा करनी है। यहीं इत्मीनान से बैठकर सिम में रीचार्ज करना और कोई ख़ास 'पैकेज' चालू करना सीखा। 500 रुपये का रीचार्ज हमने कर ही लिया था। अब अगर हम साधारण दर पर ही नेट आदि चलाते रहेंगे, तो थोड़ी ही देर में सब पैसे ख़त्म हो जाएँगे। इंटरनेट के 'पैकेज' में 120 रुपये में 7 दिनों के लिए 250 एम.बी. डाटा मिल गया, जो सबसे किफ़ायती था। अब महसूस हुआ कि हमारा भारतवर्ष इंटरनेट के मामले में कितना सस्ता है! इतने पैसों में 2 जी.बी, तक डाटा मिल जाता है, अर्थात 2000 एम.बी. से भी ज़्यादा।

इससे हमारा 'व्हाट्सएप' भी चलता रहा, 'फ़ेसबुक' भी चलता रहा और हम लगातार मित्रों व संबंधियों के संपर्क में भी बने रहे।

चौथा दिन: काठमांडू

आज थी 12 मई 2016 और दिन था बृहस्पतिवार। काठमांडू जाना बिल्कुल भी आवश्यक नहीं था। ट्रैक के लिए जो भी परमिट ज़रूरी होते हैं, वे सभी पैदल रास्ते में मिल जाते हैं। दूसरा नुक़सान था कि काठमांडू के रास्ते जाने पर हमें ज़्यादातर पहाड़ी मार्ग से चलना पड़ेगा। इससे हमारी गति पर भी असर पड़ता। दूसरा विकल्प था कि इसी महेंद्र राजमार्ग यानी पूर्व-पश्चिम राजमार्ग पर चलते रहें। हेटौड़ा होते हुए बारडीबास और सिराहा तक मैदानी मार्ग है। वहाँ से बाएँ मुड़कर कटारी, घुर्मी, ओखलडुंगा होते हुए फाफलू पहुँचे। इसमें केवल कटारी से फाफलू तक का मार्ग ही पर्वतीय है। इस प्रकार हम कम-से-कम एक दिन पहले ही फाफलू पहुँच सकते हैं। रात हम यही सोचकर सोए थे कि काठमांडू नहीं जाएँगे।

सुबह उठे तो दीप्ति ने काठमांडू चलने की इच्छा ज़ाहिर की। मैंने कहा, “तो कोई बात नहीं, काठमांडू से ही चल पड़ेंगे। पशुपतिनाथ जी का भी आशीर्वाद ले लेंगे।” बात भी सही थी। बड़ी यात्रा है, तो बड़े देव का आशीर्वाद भी बनता है। पशुपतिनाथ मतलब केदारनाथ के अर्धांग। शिव हिमालय हैं और हिमालय शिव है।

आठ बजे परासी से बिना कुछ खाए-पीए चल दिए। इससे पहले जब हम पैसे देने लगे तो बताया कि 1900 नेपाली रुपये हुए हैं, 1000 रुपये कमरे के और 900 रुपये खाने-पीने के। मैंने कहा, “ए.सी. कमरे के 1000 थे, ए.सी. चला नहीं और अब हम नॉन-ए.सी. के ही पैसे देंगे।” बोला, “ए.सी. नहीं चला, लेकिन हमने कूलर का भी तो इंतज़ाम कर दिया।” मैंने पूछा, “कूलर और ए.सी. में कोई अंतर ही नहीं है क्या?” बोला, “तो दे दो, जितने आपका मन करे।” मैंने उसे 1000 भारतीय रुपये दे दिए। उसने चुपचाप रख लिए। 1000 भारतीय अर्थात 1600 नेपाली।

परासी से थोड़ा दूर चले, महेंद्र राजमार्ग आ गया। यह नेपाल का सबसे लंबा राजमार्ग है जो धुर पश्चिम में महेंद्रनगर से धुर पूर्व में काकड़भिट्टा तक जाता है। इसे भारत के सहयोग से बनाया गया है और अक्सर रास्ते में सूचना-पट्ट भी मिल जाते हैं- “भारत के सहयोग से।” यह ज़्यादातर मैदान से होकर गुज़रता है, हालाँकि कहीं-कहीं अल्प दूरी के लिए पहाड़ी रास्ते भी मिल जाते हैं।

मौसम अच्छा था, ऊपर कुछ बादल भी थे। बाइक चलाने में आनंद आ रहा था। एक जगह पुलिस वालों ने रोक लिया, “कहाँ जाओगे?”

“काठमांडू।”

“भनसार है?”

“हाँ है।”

“ठीक है, जाओ।”

बड़े मृदुभाषी पुलिसिये थे।

एक घंटे बाद चोरमारा में पैर सीधे करने रुक गए। कोठारी जी पीछे ही थे। कुछ देर बाद देखा कि वे भी हमसे क़रीब 100 मीटर पीछे रुक गए हैं। उन्हें नहीं पता था कि हम भी रुके हुए हैं। तभी निगाह पड़ी एक दुकान पर, वहाँ पूरियाँ तली जा रही थीं और जलेबियाँ भी रखी थीं। भूख लग ही रही थी। लपक पड़े उसी तरफ़। कोठारी जी को भी बुला लिया।

यह गोरखपुर का रहने वाला था। “नेपाली तो काम की तलाश में भारत जाते हैं और तुम इधर आ गए?” पूछने पर बोला, “काम जहाँ भी मिले, कर लेना चाहिए।” उसे यहाँ से गोरखपुर जाने में चार घंटे लगते हैं; दो घंटे बॉर्डर तक और फिर दो घंटे गोरखपुर तक। बोला, “लखनऊ से भी नज़दीक है चोरमारा। फिर कैसा विदेश?”

50 रुपये में चार पूरियाँ, आलू की सब्ज़ी और एक जलेबी थी। 20 रुपये की एक कप चाय। 70 रुपये में पेट भर गया। तीनों के 210 रुपये लगे- नेपाली। इसके मैंने उसे 100 का एक भारतीय नोट और 50 का एक नेपाली नोट दिया।

दिल्ली से चोरमारा 1000 किलोमीटर दूर है।

पौने दस बजे यहाँ से चले और घंटे भर में ही नारायणगढ़ पहुँच गए। यहाँ नारायणी पर बहुत लंबा पुल है। नारायणी नदी काफ़ी दूर से हमारे दाहिने ही बहती आ रही थी। रास्ते में कई स्थानों पर भारतीय बसें भी खड़ी मिलीं। खाना-पीना कर रहे थे। भारतीय बसें और भारतीय ट्रक यहाँ काफ़ी संख्या में चलते हैं। बसें तो चलती हैं पशुपतिनाथ की तीर्थयात्रा के लिए और ट्रक चलते हैं नेपाल के कोने-कोने में माल ले जाने के लिए।

नारायणगढ़ से महेंद्र राजमार्ग तो सीधे हेटौड़ा की तरफ़ चला जाता है और एक रास्ता बाएँ मुड़ता है, जो 35 किलोमीटर आगे मुगलिंग में काठमांडू-पोखरा राजमार्ग में जा मिलता है। इधर से काठमांडू जाने वाली सभी गाड़ियाँ इसी मार्ग का प्रयोग करती हैं। हमारी इच्छा हेटौड़ा होकर जाने की थी, ताकि अधिक-से-अधिक दूर तक मैदान में चलना मिल सके। एक बार पहाड़ में घुस गए, तो कम-से-कम तीन सप्ताह तक बाहर निकलना संभव नहीं। लेकिन नारायणी पार करते ही बुद्धि पलट गई और हमने अपनी बाइक महेंद्र राजमार्ग छोड़कर बाएँ मोड़ ली।

लेकिन इधर से आना हमारी ग़लती सिद्ध हुई। यह 35 किलोमीटर की सड़क पहाड़ी तो है ही, साथ ही ख़राब भी है। रात बारिश हो जाने से इस पर कीचड़ हो गई थी। ऊपर से बसों, कारों और ट्रकों की मीलों लंबी लाइन। कई स्थानों पर पुल क्षतिग्रस्त, कई स्थानों पर भू-स्खलन। सोनौली से आने वाली और काठमांडू जाने वाली सभी गाड़ियाँ इसी रास्ते से जाती हैं। फिर नेपाल का अपना भी ट्रैफ़िक। पश्चिमी और मध्य नेपाल की काठमांडू जाने वाली और आने वाली सब-की-सब गाड़ियाँ इसी रास्ते का प्रयोग करती हैं। शुरू के नौ किलोमीटर चलने में आधा घंटा लग गया। कुछ तो आराम करने के लिए और कुछ अपने इधर से आने के निर्णय पर पुनर्विचार करने के लिए हम नौ किलोमीटर बाद एक रेस्टॉरेंट में रुक गए।

स्थानीय लोगों से बातचीत करके पता चला कि कुछ ही दूर तक ख़राब सड़क है, फिर अच्छा रास्ता है। इतना सुनते ही हमारा भी इसी रास्ते काठमांडू जाना पक्का हो गया। अन्यथा हम वापस नारायणगढ़ की तरफ़ मुड़ने वाले थे और हेटौड़ा होते हुए काठमांडू जाते।

नेपाल में ऐसे दृश्य बिलकुल आम हैं। दीप्ति हाथ धोने नल के पास गई; वापस आई तो चेहरा बदला हुआ था। मैंने पूछा, "क्या हुआ?" बोली, "पहले हाथ धोकर आओ, तब बताऊँगी।" मैं भी गया तो देखा कि नल के पास एक बड़े भगोने में ताजी छिली हुई मुर्ग़ियाँ रखी हुई थीं। अभी भी मैं इस दृश्य पर दस पंक्तियाँ और लिख सकता हूँ लेकिन वर्णन बहुत ज़्यादा वीभत्स हो जाएगा। मैं दीप्ति की हालत समझ चुका था। हम अंडे ज़रूर खा लेते हैं, लेकिन माँस नहीं खाते। तो ऐसे दृश्य देखना अच्छा नहीं लगता। जी ख़राब हो जाता है। और कोठारी जी भी हाथ धोने गए थे। उन पर कैसी बीती होगी? वे तो विशुद्ध शाकाहारी हैं, अंडा भी नहीं खाते। लेकिन नेपाल में आपको ऐसे दृश्य दिखने आम हैं। आपको बुरा लगे तो लगे। किसी को आप नहीं बदल सकते, ख़ुद को ही बदलना होगा। विशुद्ध शाकाहारियों को यह जानकर झटका लगेगा कि जिस बर्तन में वे लोग माँस पकाते और परोसते हैं, उसी बर्तन में दाल-भात भी पकाते और परोसते हैं। यह उनके लिए एकदम सामान्य बात है, लेकिन आपके लिए नहीं।

इसके बाद सड़क में कुछ सुधार मिला। मुगलिंग पहुँचे। यहाँ से बाएँ सड़क पोखरा जाती है और दाहिने काठमांडू। चार-पाँच साल पहले जब मैं नेपाल आया था, तो इसी सड़क से काठमांडू से पोखरा गया था। तब मैं बस में था और मुझे कुछ नहीं पता था कि कहाँ-कहाँ से गुज़र रहा हूँ। अब मैं मुगलिंग पहुँचा, तो वे पुरानी स्मृतियाँ बिल्कुल भी ताज़ा नहीं हुईं।

मुगलिंग से पाँच किलोमीटर आगे मनकामना मंदिर है। मंदिर तो वैसे ऊपर पहाड़ पर है और वहाँ जाने के लिए पैदल रास्ते के अलावा केबल-कार भी है। यहाँ सड़क पर खड़ी बसों और अन्य गाड़ियों व मंदिर के भव्य प्रवेश-द्वार को देखने से पता चलता है कि इस मंदिर की मान्यता बहुत ज़्यादा है। किसी ने बताया कि जो मान्यता भारत में वैष्णों देवी की है, वही यहाँ मनकामना देवी की है। मेरे लिए आश्चर्य की बात ये रही कि यहाँ गुजरात रोडवेज की कच्छ की बस खड़ी थी। अभी तक मैं यही मानता चला आ रहा था कि सरकारी बसें किसी की प्राइवेट बुकिंग पर नहीं चलतीं, लेकिन आज पहली बार पता चला कि ये बसें बुकिंग पर चलती हैं और यह बस भी इसी तरह की एक बुकिंग पर आई थी।

दिल्ली से काठमांडू तक दिल्ली परिवहन निगम डी.टी.सी. की वॉल्वो बस नियमित रूप से चलती है। इसमें दोनों देशों का सहयोग है और इसे अंतर्राष्ट्रीय बस सेवा का दर्जा प्राप्त है। ठीक दिल्ली-लाहौर बस की तरह। दिल्ली-काठमांडू बस के आगे-पीछे सुरक्षा-बल चलते हैं। ठीक इसी तर्ज़ पर गुजरात रोडवेज भी अगर ऐसी ही बस सेवा काठमांडू तक कर दे, तो कितना अच्छा हो! गुजरात से बड़ी संख्या में श्रद्धालु काठमांडू आते हैं।

अब हमारा रास्ता त्रिशूली नदी के साथ-साथ हो जाता है। त्रिशूली सप्त-गंडकी की एक नदी है।

जैसा कि नाम से ही ज़ाहिर है कि सप्त-गंडकी में सात नदियाँ आती हैं- त्रिशूली, बूढ़ी

गंडकी, मरश्यांगडी, दरौदी, सेती गंडकी, माड़ी और काली गंडकी। इनमें सबसे ज़्यादा महत्वपूर्ण कौन-सी है, नहीं कह सकते। फिर भी त्रिशूली को मुख्य नदी मान सकते हैं।

सेती गंडकी से मिलने के बाद त्रिशूली नाम भी समाप्त हो जाता है और अब यह नारायणी नदी कहलाने लगती है। नारायणगढ़ के पास इसमें काली गंडकी आकर मिल जाती है। काली गंडकी मुस्तांग से आती है और अन्नपूर्णा के उत्तर और तिब्बत तक का पानी अपने साथ लाती है। प्रसिद्ध तीर्थस्थल मुक्तिनाथ भी इसी काली गंडकी के जल-क्षेत्र में स्थित है।

नारायणगढ़ को नारायणघाट भी कहते हैं। यहाँ नारायणी नदी नेपाल के लुंबिनी अंचल और नारायणी अंचल की सीमा भी बनाती है। अंचलों को इस तरह समझिए जैसे भारत में प्रदेश। एक अंचल में कई ज़िले होते हैं। इन्हीं अंचलों के आधार पर ही गाड़ियों का रजिस्ट्रेशन होता है। लुंबिनी की गाड़ियों का नंबर 'लु' से शुरू होता है और नारायणी की गाड़ियों का नंबर 'ना' से। उधर मुगलिंग के उत्तर में गंडकी अंचल है, जिसका नंबर 'ग' से आरंभ होता है। ठीक इसी तरह, जैसे हमारे यहाँ 'DL', 'UP' होते हैं।

नारायणगढ़ में नारायणी नदी पहाड़ से मैदान में प्रवेश करती है। फिर तो यह मैदान में ही रहती है और बगहा से थोड़ा उत्तर में यू.पी.-बिहार की सीमा बनाती हुई भारत में प्रवेश कर जाती है। भारत में इसका नाम गंडक है। यही गंडक सोनपुर के पास गंगा में जा मिलती है।

यह थी सप्त-गंडकी की भौगोलिक कथा। यक़ीनन इनकी पौराणिक और लोककथाएँ भी होंगी, जो इस समय मुझे नहीं मालूम। नेपाल में और ज़्यादा बिताने का मौ़का मिले, तो लोककथाएँ भी पता चल जाएँगी।

दो बजे तक हमें भूख भी लगने लगी थी और नींद भी आने लगी थी। धूप तेज़ थी। कोठारी जी आगे निकल चुके थे। हम पहले तो इस उम्मीद में चलते रहे कि कोठारी जी कहीं भोजन के लिए बैठे मिलेंगे, लेकिन जब इसकी कोई संभावना नहीं लगी, तो एक जगह बाइक रोक दी। छायादार शांत जगह थी। लेट गया और सो गया। पौने घंटे तक सोता रहा। फिर उठकर चल दिए। पंद्रह मिनट में ही मलेखू पहुँच गए। एक रेस्टॉरेंट के सामने बाइक रोक दी और दाल-भात का ऑर्डर दे दिया। यहाँ फ्री वाई-फ़ाई था। उसने पासवर्ड बता दिया और हमने सबसे पहला काम किया- कोठारी जी को अपनी लोकेशन शेयर करना। उधर से उनकी भी लोकेशन आ गई। वे हमसे क़रीब पचास किलोमीटर आगे थे। पहाड़ों में पचास किलोमीटर काफ़ी होते हैं। मैं ज़्यादा तेज़ बाइक नहीं चलाता, तो कोठारी जी जल्दी ही हमसे काफ़ी आगे निकल जाया करते। एक बार आगे निकलने के बाद उन्हें रुकना ध्यान नहीं होता। मैं रुक भी जाता था और सो भी लिया करता था। इससे दूरी काफ़ी बढ़ जाया करती थी। लेकिन इस बात से हममें कभी मन-मुटाव नहीं हुआ। वे सोचते कि नीरज तो आ ही जाएगा और मैं सोचता कि जाएँगे कहाँ हमें छोड़कर!

मलेखू से चले तो 45 किलोमीटर आगे नौबिसे रुके। एक-एक कॉफ़ी ले ली। ट्रैफ़िक बहुत ज़्यादा बढ़ गया था। लेकिन पर्याप्त चौड़ी व अच्छी सड़क के कारण तेज़ गति से चलता रहता है। लोग सड़क के बीचोंबीच बनी सफ़ेद लाइन का पालन करते हैं और इसे डिवाइडर

की तरह मानते हैं। यह यहाँ की अच्छी बात लगी। नौबिसे में बीरगंज से आने वाली सड़क भी मिल जाती है। अब तो ट्रैफ़िक बेतहाशा बढ़ गया। काठमांडू से पूरे नेपाल- धुर पूर्व से लेकर धुर पश्चिम तक- की गाड़ियाँ यहीं से जाती हैं। शाम का समय था और काठमांडू से चलने वाली रात्रिकालीन व लंबी दूरी की बसों की अनंत पंक्तियाँ आने लगी थीं। महेंद्रनगर, धनगढ़ी, नेपालगंज, बुटवल, लुंबिनी, बीरगंज, जनकपुर, बिराटनगर और काकड़भिट्टा की बसें लगातार आती जा रही थीं। वैसे तो काठमांडू से पूर्वी नेपाल की बसें सिंधुली होते हुए भी जा सकती थीं, लेकिन इधर से जाने पर मैदानी मार्ग ज़्यादा पड़ता है, इसलिए सब-की-सब इधर से ही जाती हैं। सिंधुली से भी जाती होगी कोई-न-कोई बस; लेकिन काकड़भिट्टा, बिराटनगर और जनकपुर की जितनी बसें इधर से जा रही थीं, उससे यही लगा कि सिंधुली के रास्ते उधर कोई नहीं जाता। या फिर सिंधुली का रास्ता ख़राब है।

अपने एक मित्र हैं, अनूप जी। दिल्ली मॉडल टाउन में रहते हैं। उन्होंने काठमांडू में कारोबार करने वाले अपने एक परिचित राजीव जी का नंबर दे दिया था कि यदि काठमांडू जाना हो तो इनसे संपर्क कर लेना। उस समय तक हमारा काठमांडू जाने का इरादा नहीं था। कल इरादा बना तो हमने राजीव जी को अपने बारे में बता दिया।

राजीव जी बड़ी गर्मजोशी से मिले। थोड़ा ही आगे इनका बड़ा ही भव्य शोरूम है, बेंटले का। काठमांडू के एकदम हृदय-स्थल पर, दरबार मार्ग पर यह शोरूम था। इनमें बड़े-बड़े पैसे वाले ही ख़रीदारी करने आते हैं; हम जैसे तो दूर से ही निकल जाते हैं, नमस्कार तक नहीं करते।

राजीव जी भी दिल्ली के ही रहने वाले हैं। कभी तो पंद्रह दिन में ही चले जाते हैं और कभी महीनों तक नहीं जाते। इन्होंने हमें ठमेल में सत्कार रेस्टॉरेंट का रास्ता बता दिया कि वहाँ सरदारजी मिलेंगे, वे आपको आपके होटल में पहुँचा देंगे। आराम करना और सत्कार में ही डिनर व ब्रेकफास्ट कर लेना। साथ ही ज़ोर देकर यह भी कहा, “आपको कहीं भी कोई पैसा नहीं देना है। न होटल में और न ही खाने में।”

ठमेल का काठमांडू में वो दर्जा है, जो दिल्ली में कनॉट प्लेस का है। विदेशी ख़ूब आते हैं यहाँ और महँगी जगह तो है ही। सत्कार रेस्टॉरेंट एक गली के अंदर है, बाहर बोर्ड लगा है। सरदारजी से मिले। उन्होंने एक नेपाली लड़का भेज दिया। होटल क़रीब सौ मीटर दूर था। चेक-इन कर लिया। कमरा देखकर आनंद आ गया। जाते ही सबसे पहले तो नहाए और फ्री वाई—फ़ाई मिला तो ज्ञानी बन गए। फ़ेसबुक पर लिख मारा:

“काठमांडू का भविष्य क्या है? 10 साल बाद यह शहर कहाँ होगा? पहले ही काफ़ी देर हो चुकी है; अगर अभी भी कुछ नहीं सोचा गया, कोई प्लानिंग नहीं बनाई गई; तो शहर में बिना ऑक्सीजन सिलेंडर के कोई बाहर नहीं निकलेगा। आज भी आधी आबादी मास्क पहनती है, लेकिन मास्क से होता क्या है? बहुत ख़तरनाक मोड़ पर है यह शहर।”

वास्तव में बड़े बुरे हालात हैं। प्रत्येक गाड़ी इस तरीक़े से धुआँ छोड़ती है, जैसे उसकी किसी से प्रतियोगिता हो। यदि मैं दिल्ली में रहने वाला काठमांडू के प्रदूषण की शिकायत कर रहा हूँ तो समझिए कि बात बहुत गंभीर है। दिल्ली में भी वैसे तो काफ़ी प्रदूषण है, लेकिन यहाँ समय रहते कई काम हुए हैं। मसलन सी.एन.जी. का प्रयोग, मेट्रो का विकास

और कारखानों को दिल्ली से बाहर भेजना। काठमांडू में न सी.एन.जी. है, न मेट्रो है और कारखानों का मुझे पता नहीं। यक़ीन मानिए, आप किसी नेपाली बस या ट्रक को ओवरटेक करेंगे, तो काले धुएँ के बीच से होकर ही निकलना पड़ेगा।

और इसका सीधा-सीधा कारण राजनीतिक अस्थिरता है। माओवादी तो वैसे भी किसी निर्माण और 'फ़्यूचर प्लानिंग' के विरोध में रहते हैं। माओवादी यहाँ सत्ता में हैं, इसलिए सुधार की कोई उम्मीद नहीं है।

सरदारजी के रेस्टॉरेंट का पूरा नाम था- न्यू सत्कार वेजीटेरियन रेस्टॉरेंट। ज़्यादा महँगा भी नहीं था। स्वादिष्ट भोजन करने का आज हमारा आख़िरी दिन था। इसलिए पनीर की सब्ज़ी तो आनी ही थी। लेकिन जैसे ही देखा कि खीर भी उपलब्ध है, तो खीर भी ले ली। सामने दीवार पर विभिन्न 'डिश' के नाम हिंदी और चीनी में रोमन लिपि में लिखे थे। विशुद्ध भारतीय व्यंजनों का चीनी अनुवाद पढ़ना बड़ा ही मजेदार था- रोटी को 'किया बा टी दे' पूरी भाजी को 'योऊ झा किया बा टी' पंजाबी कढ़ी को 'पांगझेपू कढ़ी दे' भिंडी को 'नूजी दे शोऊझी' शाही पनीर को 'बोकाई नाईयू साइंग लिओ'। वैसे पता नहीं ये चीनी नाम ही हैं या नहीं, लेकिन हमने इन्हें चीनी मान लिया।

वापस कमरे में आ गए और देर रात तक इंटरनेट पर लगे रहे। फ्री वाई-फ़ाई ज़िंदाबाद।

पाँचवाँ दिन: पशुपति दर्शन और आगे प्रस्थान

13 मई 2016

होटल के रिसेप्शन में नेपाल का एक बड़ा-सा मानचित्र टँगा था। मैंने इसमें काठमांडू से फाफलू की सड़क देखी तो नहीं मिली। जो नक़्शा गुगल हमें बता रहा था, उसके अनुसार काठमांडू से धुलीखेल, भीमेश्वर, घुर्मी होते हुए फाफलू तक सड़क बनी है। लेकिन यहाँ दीवार टँगा यह नक़्शा बता रहा है कि भीमेश्वर के बाद कोई सड़क नहीं है, बल्कि पैदल रास्ता है। हालाँकि मैं गुगल मैप पर पूरी तरह यक़ीन नहीं करता, लेकिन 'सैटेलाइट' से मैंने सड़क देखी थी। हो सकता है कि सड़क अच्छी न हो, कच्ची हो या कीचड़युक्त हो, लेकिन चार-पहिया गाड़ी के चलने लायक़ तो है।

इस बारे में होटल वाले से बात की तो वो पट्ठा दूसरे ही मामले में ख़ुश हो रहा था। आज का अख़बार उठाकर मुझे दिखाने लगा- "ये देखो, चाईना काठमांडू तक रेल लेकर आएगा।" नेपाली अख़बार था, मुझे समझ नहीं आया, लेकिन इतना अवश्य जान गया कि ख़बर रेल से संबंधित है। ग़ौरतलब है कि नेपाल में नाममात्र की ही रेल लाइन है। एक तो जयनगर से जनकपुर और उससे थोड़ा आगे तक नैरोगज़ की लाइन थी जिसे अब ब्रॉडगेज़ बनाने के लिए बंद कर रखा है। दूसरी लाइन है रक्सौल से बीरगंज तक, जो केवल मालगाड़ियों के आवागमन के लिए है। ऐसे में अगर कोई कहे कि काठमांडू तक रेल पहुँचाएँगे, तो नेपाली ख़ुश होंगे ही। फिर यह बात अगर चीन कहे, तो ख़ुशी देखते ही बनती है। हालाँकि एक भारतीय होने के नाते मैं चाहता हूँ कि नेपाल में रेलमार्ग भारत की तरफ़ से ही बने। महेंद्रनगर से काकड़भिट्टा तक यानी टनकपुर से सिलीगुड़ी तक का रेलमार्ग नेपाल की जीवनरेखा सिद्ध हो सकता है। बीच में नेपालगंज रोड से, बढ़नी से, नौतनवा से, रक्सौल से, जयनगर से और जोगबनी से भी कुछ लिंक लाइनें बिछा दी जाएँ। साथ ही पोखरा और काठमांडू भी जोड़े जाएँ। हालाँकि ऐसा कुछ नहीं होगा। लेकिन यदि ऐसा हो भी जाता है, तब भी माओवादी नेपाल का झुकाव चीन की तरफ़ ही रहेगा, भारत की तरफ़ कभी नहीं हो सकता।

अब जब चीन ने काठमांडू तक रेल लाइन बिछाने की घोषणा की, तो नेपाल का ख़ुश होना स्वाभाविक है। लेकिन भइया नेपाल, चीन काठमांडू तक रेल लाइन बिछा भी देगा, तब भी वो तुम्हारे किस काम की रहेगी? तुम एक ग़रीब मुल्क हो। चीन से तुम्हारे कैसे भी मधुर संबंध हो जाएँ, लेकिन वो तुम्हें अपने यहाँ घुसने भी नहीं देगा। चीन में रोज़गार की तो बात ही भूल जाओ। आना तुम्हें भारत में ही पड़ेगा। आज नेपाली बाहुल्य गोरखा रेजीमेंट भारतीय सेना का अभिन्न अंग है, चीन की सेना का अंग बनने की सोचना ही मत। चीन से कितनी भी मित्रता हो जाए तुम्हारी, भारत से कितना भी बैर हो जाए तुम्हारा;

लेकिन तुम्हें क़दम-क़दम पर भारत के सहयोग की ज़रूरत पड़ती रहेगी। चीन का स्वागत ज़रूर करो, लेकिन भारत को नकारो मत।

हमारे एक मित्र हैं रमेश शर्मा जी ऊधमपुर वाले। अब उन्हें मित्र कहना भी ठीक-सा नहीं लगता। मुझसे दोगुनी उम्र के हैं। लेकिन इंटरनेट की इस दुनिया में बहुत-से लोग 'मित्र' ही होते हैं। बच्चों की ज़िम्मेदारी से मुक्त हो चुके हैं, ठीक कोठारी जी की तरह। जहाँ कोठारी जी तो ज़िम्मेदारियों से मुक्त होकर अपने लिए ख़ूब समय निकाल लेते हैं, ख़ूब घूमते हैं; वहीं रमेश जी अभी ऐसा नहीं कर सके। कोशिश अवश्य करते हैं। उन्हें भी महीनों पहले से हमारी इस यात्रा की जानकारी थी। बेस कैंप जाने की इच्छा उनकी भी थी। समय निकलता गया और वे इच्छा ज़ाहिर करने से आगे नहीं बढ़ सके। उनकी और कोठारी जी की एक समान आयु होने के कारण ख़ूब बनती है। उन्होंने कोठारी जी से इस यात्रा के बारे में ख़ूब बातें कीं, ख़ूब योजनाएँ बनाईं; लेकिन इसे हक़ीक़त में नहीं बदल सके।

अब जबकि हमारी यात्रा आरंभ हो चुकी थी, वे रोज़ कोठारी जी से लंबी-लंबी बातें करते और आगे की 'प्लानिंग' की जानकारी लेते। फिर कोठारी जी हमसे बताते कि रमेश जी ऐसे-ऐसे कह रहे हैं और उनका अभी भी मन है बेस कैंप जाने का। हम हँसकर रह जाते। मन तो उनका दो महीनों से है, लेकिन अगर वे एक क़दम बढ़ा लेते, तो आज हम साथ होते।

लेकिन आज तो उन्होंने हद ही कर दी। कहने लगे, "मैं अभी ऊधमपुर से निकल रहा हूँ। कोई ऐसा तरीक़ा बताओ कि रास्ते में तुम लोगों को पकड़ सकूँ।" कोठारी जी ने मोबाइल मुझे पकड़ा दिया। सुनते ही मेरे मुँह से निकला, "यह क्या कह रहे हो आप?"

"मुझसे रुका नहीं जा रहा अब। बेस कैंप अवश्य जाना है। क्या-क्या सामान पैक करूँ और किस रास्ते से आऊँ?"

"सर, बेस कैंप जैसी बड़ी यात्राओं की तैयारियाँ अचानक मिनटों में नहीं हुआ करतीं। इसके लिए महीनों-सालों तक लग जाते हैं।"

"मुझे बस अभी निकलना है। दोपहर बाद जालंधर से जयनगर की ट्रेन है। कल शाम तक मैं जयनगर पहुँच जाऊँगा। उसके बाद बताओ क्या करना है?"

"हम कल शाम तक फाफलू पहुँच जाएँगे। यानी आपसे दो दिन आगे रहेंगे। जयनगर से आपको नेपाल में जनकपुर जाना पड़ेगा। जनकपुर से फाफलू तक गूगल वैसे तो सड़क दिखा रहा है, लेकिन मुझे उसकी अवस्था की जानकारी नहीं है। और न ही यह पता है कि वहाँ बसें भी चलती हैं या नहीं। नहीं तो आपको टैक्सी करनी पड़ेगी। सड़क ज़्यादा ख़राब हुई तो टैक्सी भी नहीं मिलेगी।"

इसके बाद मैंने और कोठारी जी ने इस बारे में आपस में बात की, "रमेश जी को हो क्या गया है? हम कहीं एक-दो दिन रुककर उनकी प्रतीक्षा भी कर लेंगे, लेकिन ऐसी यात्राएँ केवल चाहने भर से नहीं हुआ करतीं। सालों की तैयारियाँ लगती हैं। वे अभी घर से निकलने वाले हैं और पूछ रहे हैं कि सामान क्या लेकर आएँ। फिर हमें रास्ता भी नहीं पता। वहाँ बसें चलती हैं या नहीं, यह भी नहीं पता। अभी तो हमने कह दिया कि हम दो दिन आगे रहेंगे, लेकिन आगे क्या पता कैसे हालात हों। उनसे फ़्लाइट से आने को कहते हैं, आज

शाम तक या कल सुबह तक वे आ जाएँगे। फिर जो होगा, देखेंगे।”

रमेश जी ने फ़्लाइट से आने को सिरे से मना कर दिया। मैंने और कोठारी जी ने फिर से विमर्श किया। क्या करें? कैसे समझाएँ उन्हें? सरदार जी के रेस्टॉरेंट में पनीर-भुज्जी के साथ आलू के पराठे खाने का सारा आनंद यह सोचने में समाप्त हो गया कि रमेश जी को कैसे समझाएँ। पराठे समाप्त हुए। फिर थोड़े-से हाथ झाड़े, थोड़े-से पिछवाड़े पर फेरे और थोड़े-से धो लिए। इसके बाद इत्मीनान से रमेश जी को ‘फ़ाइनल कॉल’ कर दी, “सर, हम आपसे दो दिन आगे हैं। हम रुक तो नहीं सकते, आप सड़क व रेल मार्ग से ही आएँगे; तो कभी भी हमें नहीं पकड़ पाएँगे। हमें लुकला पहुँचने में कम-से-कम चार दिन और लगेंगे। जबकि आप ऊधमपुर से दो दिनों में आसानी से लुकला पहुँच सकते हैं। यदि आप वास्तव में इस यात्रा को गंभीरता से ले रहे हैं, तो पैसे ख़र्च करने पड़ेंगे। आज दिल्ली पहुँचिए और काठमांडू की फ़्लाइट ले लीजिए। कल या परसों काठमांडू से लुकला फ़्लाइट से आ जाना। नहीं तो आज दिल्ली पहुँचकर कल दिल्ली-काठमांडू बस से परसों शाम तक काठमांडू आ जाना और चौथे दिन फ़्लाइट से लुकला चले आना। हम चौथे या पाँचवें दिन लुकला मिलेंगे। इसके अलावा कोई और तरीक़ा नहीं है।”

उनका जो जवाब आया, उससे हम तीनों बड़े ख़ुश हुए। समझ तो आप गए ही होंगे। उन्होंने आने से मना कर दिया, “तब तो फिर कभी देखूँगा।”

असल में ऐसी यात्राएँ ‘जो होगा, देखा जाएगा’ के फ़ार्मूले से नहीं हुआ करतीं। तैयारियाँ करनी पड़ती हैं, मेहनत करनी पड़ती है। और सबसे बड़ी बात कि किसी के पीछे नहीं चलना होता। जब अपनी तैयारियाँ पूरी होंगी, तो कार्यक्रम स्वत: ही बनता चला जाएगा। रमेश जी का मन ज़रूर था, लेकिन तैयारी नहीं थी। जिस दिन वे वास्तव में तैयार होंगे, उस दिन हम उन्हें बेस कैंप जाते हुए देखेंगे।

ठमेल का बाज़ार शानदार बाज़ार है। कहते हैं यहाँ सस्ती चीज़ें मिलती हैं, लेकिन मुझे नहीं पता। पतली-पतली गलियाँ हैं और बाहर तक सामान टँगा रहता है, जो किसी भारतीय शहर का भी आभास कराता है। मुझे वैसे तो बाज़ारों में घूमना अच्छा नहीं लगता, लेकिन थोड़ा सामान ख़रीदना था, इसलिए चल पड़े। आपको शॉपिंग का भले ही कोई अनुभव न हो, लेकिन यदि साथ में कोई महिला हो तो यह अनुभवहीनता आड़े नहीं आती। दीप्ति का गणित इतना कमज़ोर है कि उससे यदि चार और पाँच जोड़ने को कहेंगे, तो उसे उँगलियों का सहारा लेना पड़ता है। लेकिन आज उसने कमाल कर दिया। एक सामान 400 नेपाली का था, दीप्ति ने पल भर में कहा कि 400 नेपाली मतलब 250 भारतीय। सस्ता है, ले लो। मैं हिसाब जोड़ता रहा कि 400 नेपाली कैसे 250 भारतीय हो गए या साढ़े तेरह सौ नेपाली कितने भारतीय के बराबर होंगे? लेकिन दीप्ति फटाक से बता देती। यहाँ दीप्ति का ऐसा मन लगा कि दस मिनट में पंद्रह-बीस सामानों पर क़ब्ज़ा जमाकर मोलभाव करने लगी। मैंने समझाया कि हमें बेस कैंप जाना है, इतने सामान की कोई ज़रूरत नहीं है। वापसी में ख़रीद लेंगे। तब जाकर थोड़ा-सा सामान कम किया। फिर भी 3800 रुपये की शॉपिंग कर डाली। एक जैकेट, गर्म मोटे दस्ताने, गर्म लोअर... और हमें ट्रैक में इन्हीं की आवश्यकता थी। वापसी में इधर से आएँगे तो रोज़मर्रा में काम आने वाला

अन्य सामान ख़रीदते चलेंगे।

ग्यारह बजे होटल छोड़ दिया। अब जाना था हमें पशुपतिनाथ मंदिर। रास्ते में राजीव जी से भी मिलते चले। हमारा यहाँ रुकने और खाने-पीने का सारा प्रबंध उन्होंने ही किया था। उन्हें धन्यवाद कहा, दिल्ली आने पर मिलने को कहा और पशुपतिनाथ का रास्ता भी पूछ लिया।

काठमांडू के चौराहों पर लाल बत्तियाँ नहीं हैं। हर जगह पुलिस वाले ही ट्रैफ़िक नियंत्रित करते हैं और गाड़ी वाले भी नियमों का ख़ूब पालन करते हैं। इन ट्रैफ़िक पुलिस यानी यातायात प्रहरियों को काम करते देखना बड़ा मज़ेदार होता है। रुकने का इशारा करते ही सारा ट्रैफ़िक जेब्रा क्रॉसिंग से पीछे रुक जाता है। प्रहरी दूसरी तरफ़ से वाहनों को आने देता है। फिर अचानक जेब्रा क्रॉसिंग से पीछे खड़े ट्रैफ़िक को अपने पास चौराहे के बीचोंबीच तक आने को कहता है। सारा ट्रैफ़िक 10-15 मीटर आगे खिसक जाता है। मौक़ा देखकर प्रहरी दूसरी सड़क को रोककर इन्हें निकाल देता है।

और नेपाली मानते भी हैं, उसके हाथ के इशारे को। उन्हें जैसे पता है कि काठमांडू पहले ही बर्बादी की कगार पर खड़ा है, अगर अब प्रहरी का हाथ न थामा, तो बर्बादी और जल्दी आएगी। अक्सर जिन सड़कों पर डिवाइडर नहीं है, वहाँ बीचोंबीच धुर से धुर तक एक सफ़ेद लाइन बनी होती है। किसी चौराहे पर रुकने की अवस्था में या जाम लग जाने की अवस्था में लोग इन सफ़ेद लाइनों को पार नहीं करते और सड़क की दूसरी लेन सामने से आ रहे यातायात के लिए पूरी खुली रहती है। हम भारतीयों को ऐसा देखना बड़ा सुखद लगा।

शायद आपको पता हो। सड़क पर दो तरह की लाइनें होती हैं। एक तो 'डॉटेड' लाइनें और दूसरी 'सॉलिड' लाइनें। इन्हीं लाइनों के बीच में 'लेन' होती है, जिनमें से किसी एक लेन पर आपको गाड़ी चलानी होती है। ओवरटेक करने या किसी अन्य कारण से अक्सर हमें एक लेन से दूसरी लेन में जाना पड़ता ही रहता है। तो जहाँ 'डॉटेड' लाइनें होती हैं, वहाँ आप लेन बदल सकते हैं। लेकिन जहाँ 'सॉलिड' लाइनें होती हैं, वहाँ आप लेन नहीं बदल सकते और आपको अपनी उसी लेन में ही रहना पड़ता है। यह समझिए कि 'सॉलिड' लाइन 'डिवाइडर' का कार्य करती हैं, जिसे आप पार नहीं कर सकते। 'सॉलिड' लाइनें अक्सर मोड़ों पर या डिवाइडर-रहित सड़कों पर मिलती हैं।

लेकिन हमारे हिंदुस्तान में शायद ही किसी को यह नियम पता हो। नेपाल की ट्रैफ़िक 'सेंस' भारत के मुक़ाबले बहुत अच्छी है। आगे मौक़ा मिलने पर इस बारे में हम फिर बात करेंगे।

साढ़े ग्यारह बजे पशुपतिनाथ मंदिर के सामने पार्किंग में पहुँचे। कोठारी जी यहीं रुक गए हम अंदर दर्शन करने चले गए। बाइकों पर सामान बँधा था, उन पर निगाह रखना भी ज़रूरी था। मंदिर तो भव्य है ही, साथ ही नंदी प्रतिमा भी अत्यंत भव्य और विशाल है। स्थानीय वाद्य यंत्रों के अनवरत वादन से वातावरण भक्तिमय हो रहा था। प्रसाद लेकर जिस समय हम पहुँचे, कपाट बंद हो गए थे। बताया गया कि आधे घंटे बाद खुलेंगे। कोई और मौक़ा होता, तो हम बिना दर्शन किए ही बाहर आ जाते, लेकिन हमने आधे घंटे रुकने

का निश्चय किया। एवरेस्ट बेस कैंप जाना हमारा सपना था और हम इसे पूरा करने जा रहे थे, तो हिमालय के देवता भगवान शंकर के दर्शन कर लेना आवश्यक हो जाता है। कपाट खुलने के बाद जब हमने प्रसाद चढ़ाया, तो वापसी में हमें एक समूचा नारियल मिला। मुझे नहीं पता कि यहाँ चढ़ाए गए नारियल वापस प्रसादस्वरूप सभी को मिलते हैं या नहीं, लेकिन यह एक सकारात्मक संकेत था, हमारी यात्रा के सकुशल पूरा हो जाने का। तभी सोच लिया था कि इस नारियल को संभालकर रखेंगे और जहाँ से पैदल यात्रा आरंभ करेंगे, सबसे पहले नारियल फोड़ेंगे।

पिछले साल आए भयंकर भूकंप का पूरे नेपाल पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा था, लेकिन यह मंदिर बिल्कुल भी प्रभावित नहीं हुआ। हाँ, मंदिर परिसर के बाहर चारों तरफ़ ख़ूब तबाही मची थी। और ऐसा ही तीन साल पहले इसके सहोदर केदारनाथ में हुआ था। पूरी केदार नगरी और आसपास व दूर-दराज की आबादी, गाँव नष्ट हो गए, लेकिन मंदिर का बाल भी बाँका नहीं हुआ।

ऐसे में हम क्यों न इन मंदिरों में सिर झुकाएँ!

हम बाहर आए, तो कोठारी जी अंदर चले गए। वे भी बड़ी देर में आए। बताया कि कपाट बंद थे, अभी खुले थे। तो क्या पशुपतिनाथ के कपाट आधे-आधे घंटे के लिए खुलते और बंद होते रहते हैं?

गोलगप्पे जहाँ भी मिले, उन्हें खा लेना चाहिए। एक भारतीय ने छोटा-सा स्टाल लगा रखा था। साफ़-सफ़ाई का पूरा ध्यान रखा था। ऐसे में गोलगप्पे और भी स्वादिष्ट लगते हैं।

पशुपतिनाथ से चले तो एवरेस्ट की यात्रा फिर से आरंभ हो गई। एक यात्रा आरंभ तब हुई थी, जब दिल्ली से चले थे; एक अब हुई है। लेकिन चलते ही रुक जाना पड़ा। कोठारी जी को ए.टी.एम. से पैसे निकालने थे। थोड़ी ही दूर नेपाल एस.बी.आई. बैंक का ए.टी.एम. था, वे पैसे निकाल लाए। भारतीय एस.बी.आई. यानी स्टेट बैंक ऑफ इंडिया की नेपाल में जो हिस्सेदारी है, उससे नेपाल एस.बी.आई. बना। अच्छा लगता है, जब अपने देश का परचम विदेश में लहराता दिखता है।

काठमांडू में ही पेट्रोल फुल करा लेना आवश्यक था। लेकिन यहाँ पता ही नहीं चलता कि पेट्रोल पंप कहाँ है। हमें पेट्रोल पंप की पहचान होती है, एक ऊँचे खंभे और उसके ऊपर लगे कंपनी के 'लोगो' से। लेकिन यहाँ किसी कोने में एक चुपचाप-सा पेट्रोल पंप होता है। यह भी हो सकता है कि आप पेट्रोल पंप वाले से ही पूछ बैठें- "भाई, इधर पेट्रोल पंप कहाँ है?"

800 नेपाली में 8 लीटर पेट्रोल आया और टंकी पूरी भर गई। इससे पहले हमने नौतनवा के पास टंकी फुल कराई थी। तब से अब तक 318 किलोमीटर चले हैं, जिनमें से क़रीब 100 किलोमीटर मैदान में और बाक़ी पहाड़ में चले। 8 लीटर पेट्रोल ख़र्च हुआ, तो औसत आया लगभग 40 किलोमीटर प्रति लीटर का। अच्छा है।

मैंने पेट्रोल पंप वाले को 500 भारतीय रुपये पकड़ाए, उसने तुरंत ले लिए। हमारे पास भारतीय मुद्रा ही ज़्यादा थी। जैसे-जैसे बेस कैंप की तरफ़ बढ़ते जाएँगे, भारतीय मुद्रा स्वीकार करने वाले घटते जाएँगे। इसलिए हमारी कोशिश फ़िलहाल यही थी कि जहाँ तक हो सके, भारतीय मुद्रा ही ख़र्च करनी है। नेपाल में भारतीय रुपये के 500 और 1000 के

नोटों पर प्रतिबंध है। इसलिए हम पहले ही 100-100 के नोटों की तीन गड्डियाँ लेकर आए थे। इतने पैसे लेकर यात्रा करते हुए डर भी बना रहता है कि कोई लूट न ले, लेकिन यात्राएँ होती रहती हैं और यात्री आते-जाते रहते हैं।

ख़ैर... सवा चार बजे धुलिखेल पहुँचे। यहाँ से हमें दाहिने मुड़ जाना पड़ा। सीधी सड़क कोडारी जाती है, जो यहाँ से लगभग 85 किलोमीटर दूर है। कोडारी अर्थात नेपाल-तिब्बत सीमा। नेपाल से अगर आपको तिब्बत जाना है, तो कोडारी से ही जाना पड़ेगा।

धुलिखेल काठमांडू से क़रीब 30 किलोमीटर दूर है और अब तक ट्रैफ़िक एकदम नगण्य हो गया था। कुछ बसें जनकपुर से आती दिखीं, तो ज़ाहिर है कि यहाँ से जनकपुर तक तो सड़क बनी ही है। लेकिन हमें इसी सड़क पर और थोड़ा आगे जाकर दूसरी सड़क पकड़ लेनी है। यह दूसरी सड़क भीमेश्वर से अलग होगी जोकि घुर्मी और आगे फाफलू तक जाएगी। इसी सड़क को नेपाल के किसी भी नक़्शे में नहीं दिखाया गया है, केवल गुगल मैप में ही यह सड़क दिखाई गई है; इसलिए हम इसके बारे में निश्चित नहीं थे।

यहाँ पौन घंटा रुके रहे। 15 रुपये प्रति कप के हिसाब से चाय पी, जो वास्तव में सस्ती थी। यहाँ हमने अपने काग़ज़ों की फ़ोटो-प्रतियाँ कराईं। बाइक के भनसार की प्रति करानी सबसे ज़्यादा ज़रूरी थी।

धुलिखेल से आगे चले तो सूरज ने अपने छिपने के संकेत देने शुरू कर दिए। हम आज भीमेश्वर रुकना चाहते थे, जो यहाँ से क़रीब 90 किलोमीटर दूर है। अच्छी पर्वतीय सड़क पर 90 किलोमीटर तय करने में कम-से-कम 3 घंटे तो लग ही जाते हैं। यानी वहाँ पहुँचने में आठ-साढ़े आठ बज जाने हैं। मुझे दिन छिपने के बाद बाइक चलाना पसंद नहीं है, इसलिए आज भीमेश्वर से पहले ही कहीं रुकना पड़ेगा। लेकिन कहाँ?

नक़्शे में देखा तो दुम्जा पसंद आया। यहाँ से इसकी दूरी थी 50 किलोमीटर। कोठारी जी को भी बता दिया कि हम दुम्जा या उससे भी दस-पाँच किलोमीटर पहले जहाँ भी ठिकाना मिलेगा, रुक जाएँगे।

पर्याप्त चौड़ी और अच्छी सड़क थी। बाइक खींच दी। पाँच मिनट के लिए भकुंडे बेसी रुके और शाम छः बजकर चालीस मिनट पर दुम्जा पहुँच गए। अँधेरा हो गया था। जो भी पहला होटल मिला, बाइक रोक दी। 120 किलो का आदमी इसका मालिक था। निहायत देहाती इलाक़ा है और किसी से ज़्यादा अच्छा संपर्क भी नहीं। इसलिए बहुत-सी बातों से अछूता है। बिजली की लाइन भी नहीं है। जनरेटर चालू था, लेकिन दस बजे यह बंद हो जाएगा। उसके बाद न लाइट चलेगी और न पंखा चलेगा। हमें पंखा चाहिए था। कुछ दूर दूसरे होटल में गए, लेकिन वहाँ तो पंखा भी नहीं था। वापस इसी में आ गए। कम-से-कम दस बजे तक तो पंखा चलता रहेगा। आपस में तय कर लिया कि फटाफट खाना खाकर दस बजे से पहले सो जाओ। हमारे सो जाने के बाद पंखा बंद होगा, तो शायद पता भी न चले।

मेरे मोबाइल में रेल की पटरियों का वॉलपेपर लगा था। होटल मालिक की निगाह पड़ गई और उसने इसे अपनी पत्नी और बच्चों को दिखाया। फिर ट्रेन के कुछ फ़ोटो भी दिखाए। बोला- “इंडिया में ऐसी होती है रेल। एक के पीछे एक बहुत बड़ी-बड़ी बसें जुड़ी होती हैं और लोहे की सड़क पर सर्र से भागी चली जाती हैं। बिजली से भी चलती हैं।” सब बड़े ग़ौर

से देखते रहे। इनके लिए रेल बहुत दूर की चीज़ है। बच्चों ने नेपाली में अपने पिता से अनगिनत प्रश्न पूछे, उत्तर मैंने दिए। एक तो नेपाल में ही रेल न के बराबर है। उन्हें इस 'आश्चर्य' को देखने विदेश जाना पड़ता है। फिर उससे भी बड़े आश्चर्य की बात यह थी कि इतने भारी-भरकम तामझाम को बिजली से कैसे चलाते हैं? जिस गाँव में बिजली ही नहीं है, जो गाँव दिन ढलने के बाद मात्र एक घंटे के लिए उजाला चाहता है, वहाँ के बच्चे कैसे समझ सकेंगे कि बिजली कितनी शक्तिशाली होती है? यहाँ से उत्तर में दूर पहाड़ों पर गाँवों में बिजली टिमटिमा रही थी। मैंने पूछा कि वहाँ बिजली कैसे, तो उत्तर मिला- "वो दूसरा इलाक़ा है। अच्छा इलाक़ा है। वहाँ की सरकार भी अच्छी है। हमारे यहाँ कुछ नहीं है।"

यह देखकर बड़ा दुःख हुआ कि काठमांडू से केवल 80 किलोमीटर दूर मुख्य राजमार्ग पर एक ऐसा भी गाँव है, जहाँ बिजली ही नहीं है। जबकि इसके चारों तरफ़ के गाँवों में बिजली है।

नेपाल में माँसाहार तो इतना आम है, जैसे हमारे यहाँ आलू। छिली हुई कच्ची-पक्की-भुनी मुर्ग़ियाँ तो ऐसे रखी रहती हैं, जैसे हमारे यहाँ सब्ज़ियाँ। यहाँ दुम्जा में भी ऐसा ही था। हम दोनों तो इसके अभ्यस्त हो गए थे, लेकिन कोठारी जी नहीं हो पाए थे। उन्हें हमेशा डर रहता कि कहीं आलू में या दाल में माँस न डालकर खिला दें। यहाँ हमने शाकाहारी भोजन के लिए कह दिया था- तीन प्लेट शाकाहारी भोजन। भोजन सामने आया तो मैं ख़ुश हो गया। इन्होंने पूरी जी-जान से इसे बनाया था। छोटी परात में चावल, आलू की सब्ज़ी, हरी घास की कोई स्वादिष्ट सब्ज़ी, पतली-सी दाल और फ्रेंच फ्राईज। यह इलाक़ा नेपाल के पर्यटन मानचित्र में नहीं है। इनके होटल में शायद ही कभी कोई रुकता होगा। हम- भारतीय- रुके तो इनके चेहरे खिल उठे। एक आग्रह पर ही मान गए कि जनरेटर ग्यारह बजे तक चला देंगे, बिना कोई अतिरिक्त पैसे लिए। बच्चों को रेलगाड़ी दिखाई। उन्होंने हमें नेपाली के कुछ शब्द सिखाए हिंदी के कुछ शब्द सीखे। सब ख़ुश थे। इसी ख़ुशी में उन्होंने भोजन बनाया। वाक़ई स्वादिष्ट था।

लेकिन इसे देखते ही कोठारी जी का मूड ख़राब हो गया। भोजन वापस फेर दिया- मन नहीं है खाने का। इसका कारण उन्होंने स्वीकार भी किया। कारण था कि वे अभी भी माँस के इस माहौल को स्वीकार नहीं कर पाए थे। सब्ज़ियाँ भले ही स्वादिष्ट हों, लेकिन परोसने का तरीक़ा 'सभ्य' नहीं कहा जा सकता। सभ्य तरीक़ा वो होता, जिसमें सभी सब्जियाँ अलग-अलग कटोरियों में आतीं, चावल अलग प्लेट में आते और पेपर नैपकिन भी आती। लेकिन यहाँ तो सबकुछ एक ही परात में लाकर रख दिया। सानी करो और खा लो। एक तो यह कोठारी जी को 'अन-हाईजेनिक' लगा, फिर वे इस बात को भी जानते थे कि थोड़ी ही देर पहले मुर्ग़ियाँ पकी होंगी और इसी परात में आधे घंटे पहले परोसी भी गई होंगी। इस बात ने उन्हें विचलित कर दिया और केवल थोड़ी-सी कोल्ड ड्रिंक पीकर काम चलाया। हालाँकि वे जानते थे कि शाकाहार और माँसाहार के लिए अलग-अलग बर्तन प्रयोग नहीं किए जाते, लेकिन इसके बावजूद भी अपने मन को नहीं समझा पाए।

इधर दीप्ति ने थोड़े-से चावल कम करवाए और मैंने तो वे भी नहीं करवाए। सबकुछ खा गए। आखिर में 'फ्रेंच फ्राईज' ने तो आनंद ही बरसा दिया। आप कहीं भी किसी साधारण

होटल में दाल-भात माँगोगे, तो 'फ्रेंच फ्राईज' तो कभी नहीं मिलेगी। यह इस बात का सबूत है कि होटल मालिक और उसकी पत्नी कितनी प्रसन्नता का अनुभव कर रहे होंगे हमारी उपस्थिति से। हमारी बाइकें भी उन्होंने एक कमरे में खड़ी करवा दीं और अंदर से शटर बंद कर दिया।

और हाँ, एक प्लेट दाल-भात, आलू की सब्ज़ी और 'फ्रेंच फ्राईज' समेत केवल 120 रुपये के थे। इसे 'एक प्लेट' कहना तो इसकी बेइज़्ज़ती करना है। एक परात कहना चाहिए। नेपाली परिदृश्य में यह सब बेहद सस्ता था। इतना सस्ता भोजन न हमें अभी तक मिला था और आगे तो क़तई नहीं मिलेगा।

दूर-दराज़ के ये इलाक़े ऐसे ही होते हैं। दिल जीत लेते हैं। ऐसी आवभगत देखकर मन करता है कि यहीं रुके रहें।

रात ग्यारह बजे तक उसने जनरेटर चलाया। जनरेटर बंद हुआ, तो पंखे भी बंद हो गए। लेकिन तब तक हम सो चुके थे।

छठाँ दिन: दुम्जा से फाफलू

14 मई **2016**

दुम्जा से फाफलू लगभग 200 किलोमीटर है। पहाड़ी रास्तों पर बाइक से एक पूरे दिन में लगभग इतनी ही दूरी तय होती है। इसका अर्थ है कि आज शाम तक हम फाफलू पहुँच जाएँगे और अपने कार्यक्रम से एक दिन लेट भी हो जाएँगे। हमारा इरादा कल ही काठमांडू से फाफलू पहुँच जाने का था, लेकिन देर तक सोने और पशुपति दर्शन में काफ़ी समय लग गया और कल हम दुम्जा तक ही पहुँच सके। एक दिन विलंब होने के बावजूद भी हमें कोई दुःख नहीं था, क्योंकि हमारे हाथ में अभी भी काफी समय था।

खिड़की का पर्दा हटाया तो सामने सुनकोसी नदी दिखाई दी। सप्त-गंडकी की तरह ही सप्त-कोसी भी हैं। इन सात 'कोसियों' में सबसे मुख्य कौन-सी है, यह तो नहीं पता, लेकिन अगर बाईं से दाहिनी तरफ़ चलें तो सबसे पहले इंद्रावती नदी आती है, फिर भोटे कोसी और उसके बाद सुनकोसी। सुनकोसी तिब्बत से आती है और इसी के किनारे कोडारी बसा है, जहाँ नेपाल-तिब्बत सड़क पुल पार करके तिब्बत में प्रवेश कर जाती है। और तिब्बत में

भी यह बड़ी दूर से आती है, इसलिए सुनकोसी को सप्त-कोसियों में सबसे मुख्य माना जा सकता है। कोडारी से थोड़ा आगे चलने पर भोटे कोसी इसमें मिल जाती है और दोलाल घाट में इंद्रावती भी मिल जाती है।

सुनकोसी फिर आगे बढ़ती है, तो दुम्जा है जहाँ हम इसके प्रवाह को देख रहे हैं। भीमेश्वर के पास बेनीघाट में तमकोसी आ मिलती है। फिर घुर्मी के पास इसमें दूधकोसी नदी मिलती है। घुर्मी तक हमें भी सुनकोसी के साथ-साथ चलना है, फिर दूधकोसी के ऊपरी क्षेत्र में जाना है। हम अपनी इस यात्रा में गोक्यो भी जाएँगे, जो कि दूधकोसी का उद्गम स्थल है।

वापस सप्त-कोसी पर आते हैं। घुर्मी से आगे चलने पर त्रिवेणीघाट में अरुण और तमोर नदियाँ भी इसमें आ मिलती हैं। अरुण और तमोर नदियाँ कंचनजंघा क्षेत्र से आती हैं। इस तरह पूरे पूर्वी नेपाल अर्थात काठमांडू घाटी से लेकर कंचनजंघा तक के विशाल इलाक़े का पानी यहाँ त्रिवेणीघाट में इकट्ठा हो जाता है और अब यह कोसी बनता है। त्रिवेणीघाट में यह पहाड़ छोड़कर मैदान में आ जाती है। इसके बाद इसे भारत में प्रवेश करते भी ज़्यादा देर नहीं लगती और उसके बाद की कहानी प्रत्येक भारतीय अच्छी तरह जानता है।

शटर पर कोई विज्ञापन लगा था, जिसके नीचे एक पंक्ति नेपाली में लिखी थी- 'गुणस्तरमा कहिल्यै सम्झौता नगरौ।' एक दिन नेपाल में गुज़ारने के बाद थोड़ी-थोड़ी नेपाली तो मुझे समझ में आने लगी थी। इसमें 'नगरौ' का अर्थ 'नगर' से मिलता-जुलता नहीं है, बल्कि 'न करो' है। अर्थात गुण-स्तर-क्वालिटी- से कोई भी समझौता मत करो। इस वाक्य में एक चीज़ और भी देखने की थी। 'सम्झौता' शब्द में 'झ' के स्थान पर पूँछ लगा 'भ' लिखा हुआ था। पहले देवनागरी में 'झ' अक्षर नहीं था, बल्कि इसके स्थान पर पूँछ लगा 'भ' ही प्रयोग किया जाता था, लेकिन इसका उच्चारण झ' का ही होता था। इसे कई बार भ्रमवश 'भ' भी समझ लिया जाता था। इस भ्रम को समाप्त करते हुए भारत ने पूँछ लगे 'भ' के बजाय एक नया अक्षर बनाया- 'झ'। अब पूरे भारत में 'झ' का ही प्रयोग होता है- हिंदी, मराठी समेत देवनागरी में लिखी जाने वाली सभी भाषाओं में। लेकिन नेपाल ने इसे नहीं अपनाया और यहाँ 'झ' के स्थान पर पूँछ लगे 'भ' का ही प्रयोग होता है।

उबले चने और उबले आलू का चाय के साथ नाश्ता करने के बाद ठीक आठ बजे यहाँ से चल दिए। यहाँ 500 रुपये का कमरा, 360 का डिनर और अब 180 रुपये का नाश्ता किया। कुल हुए 1040 नेपाली रुपये। हमने इसे 400 भारतीय व 500 का नेपाली नोट दिया, उसने 100 नेपाली हमें वापस थमा दिए। हमारे पास अभी भी बड़ी संख्या में भारतीय नोट थे और हम जहाँ तक हो सकेगा, भारतीय नोट ही चलाएँगे। भारतीय मुद्रा व नेपाली मुद्रा की गणना करने में बड़ा आनंद आता। 400 भारतीय 640 नेपाली के बराबर हुए, इसमें 500 नेपाली और जोड़ देंगे, तो कुल 1140 नेपाली रुपये हमने उसे दिए। बिल बना था 1040 नेपाली का, तो उसने हमें 100 नेपाली वापस पकड़ा दिए।

अब हम फिर से नेपाल की सबसे बेहतरीन सड़क पर थे। इसका नामकरण नेपाल के पूर्व प्रधानमंत्री बी.पी. कोईराला के नाम पर बी.पी, हाईवे किया गया है। यह काठमांडू के पास धुलिखेल से शुरू होकर जनकपुर के पास बारडीबास में पूर्व-पश्चिम हाईवे में मिल जाता है।

इसका निर्माण जापान के सहयोग से 1996 में आरंभ हुआ था। आप अगर कभी नेपाल जाओ, तो इस हाईवे पर यात्रा अवश्य करना। पर्वतीय भूभाग और भू-स्खलन का ख़ूब ध्यान रखा गया है। नवीनतम तकनीकी का इसमें प्रयोग हुआ है, ताकि सड़क पर भू-स्खलन का प्रभाव न पड़े। एक तरफ़ कंक्रीट की रेलिंग और एक तरफ़ पानी की निकासी के लिए पक्की नाली भी हैं। भरपूर यातायात चिन्ह लगे हैं। मैं इससे बहुत प्रभावित हुआ। भारत में भी ऐसा राजमार्ग हिमालयी क्षेत्रों में मुझे कोई नहीं दीखता। हाँ, यहाँ एक कमी अवश्य लगी। पानी की निकासी के लिए पहाड़ की तरफ़ जो पक्की नाली बनी है, वह पर्याप्त गहरी भी है और चौड़ी भी। इसमें गिर जाने का हमेशा डर बना रहता है। इसके बग़ल में अगर रेलिंग होती, तो बहुत अच्छा रहता। एक जगह तो एक ट्रक का अगला पहिया इसमें गिरा देखा। भरा हुआ ट्रक अपनी ताक़त से इसमें से नहीं निकल सका।

खुर्कोट में हमने इस बी.पी. हाईवे को छोड़ दिया। गूगल मैप में इस स्थान को भीमेश्वर लिखा है। हो सकता है यहाँ आसपास भीमेश्वर भी हो, लेकिन यह स्थान खुर्कोट के नाम से ही प्रसिद्ध है। सड़क पर भी दूर-दूर तक खुर्कोट के ही किलोमीटर के पत्थर लगे हैं। एक लंबा पुल पार करके तिराहे पर हम रुक गए। बी.पी. हाईवे दाहिनी तरफ जा रहा था, जबकि अब हमें बाईं ओर मुड़ जाना है। अब हम जिस रास्ते पर चलने वाले हैं, वह गुगल मैप में तो है, लेकिन किसी और नक़्शे में नहीं। यहाँ तक कि काठमांडू में लगे नेपाल के बड़े-बड़े नक़्शों में भी नहीं। इसी का मुझे संदेह था कि पता नहीं रास्ता कैसा है- है भी या नहीं।

सामने से एक बस आती दिखी। इस पर लिखा था- सलेरी, ओखलढुंगा, घुर्मी, खुर्कोट, काठमांडौ। हम काठमांडौ- नेपाली में इसे काठमांडू न लिखकर काठमांडौ लिखते हैं- से आ रहे हैं, खुर्कोट में खड़े हैं, आगे घुर्मी है। इतना तो हमें पता था, लेकिन सलेरी और ओखलढुंगा कहाँ हैं, यह नहीं पता था। बहुत बाद में पता चला कि सलेरी तो फाफलू के एकदम बग़ल में है। कुछ बसों पर सोलूखुंबू भी लिखा मिलता। सोलूखुंबू असल में ज़िले का नाम है, जिसमें हमें अपना पूरा ट्रैक करना है। सोलूखुंबू नाम का कोई शहर, क़स्बा, गाँव नहीं है। काठमांडू से बस चलती होगी तो सोलूखुंबू पढ़ने से ही लोग समझ जाते होंगे कि यह कहाँ जा रही है। बाद में पता चला कि सोलूखुंबू वाली सभी बसें सलेरी और फाफलू तक जाती हैं।

सवा नौ बजे खुर्कोट से चल दिए। यह देखकर हमारी ख़ुशी का ठिकाना नहीं रहा कि अब सड़क बी.पी. हाईवे से भी चौड़ी थी। अच्छी भी बनी थी। आराम से पचास की स्पीड से चलते रहे। ट्रैफ़िक तो पहले भी कम ही था, अब और भी कम हो गया। कोठारी जी खुर्कोट में हमसे आगे निकल गए और अब वे हमें 12 किलोमीटर आगे ग्वालटार में बैठे मिले- सड़क के बीचोंबीच खड़े बरगद के पेड़ के नीचे पक्के चबूतरे पर। यह छोटा-सा गाँव है। पास में एक महिला ने अपने कच्चे घर में चाय की दुकान खोल रखी है। तीन चाय और बिस्कुट का एक पैकेट ले लिया। सब 15-15 रुपये के। बेहद सस्ते।

पंद्रह मिनट यहाँ रुककर फिर चल दिए। सड़क अच्छी थी, लेकिन यह अच्छाई ज़्यादा देर तक न रह सकी। आगे यह निर्माणाधीन थी और सड़क पर छोटे-छोटे पत्थर पड़े थे। स्पीड में भी कमी आई और पंचर का भी डर लगने लगा। हालाँकि अभी भी चौड़ाई काफ़ी

थी।

एक जगह कुछ गाड़ियाँ कतार में खड़ी थीं। पास गए तो पता चला कि आगे भू-स्खलन की संभावना है। ऊपर से छोटे पत्थर भी गिर रहे थे और मिट्टी की अधिकता होने के कारण बड़े पत्थरों के गिरने की भी संभावना थी। सड़क पर मिट्टी जमा हो गई थी, जिसके ऊपर से जीप वालों ने चलकर रास्ता बना दिया था। दस मिनट तक खड़े रहे, पंद्रह मिनट भी हो गई। लेकिन जब उम्मीदों के विपरीत कोई बड़ा पत्थर नहीं गिरा तो सभी गाड़ी वाले चौकस रहते हुए अपनी गाड़ियाँ निकाल ले गए। बचे हम। तो उनके पीछे-पीछे हम भी निकल गए।

आगे एक नदी मिली। इसमें पानी तो ज़्यादा नहीं था, लेकिन पुल भी नहीं था। पुल बनाने का काम चल रहा है। पहले नदी में नीचे उतरना पड़ा। यह बड़ा तेज़ ढाल था। रास्ता भी इतना पतला कि अगर सामने से कोई बस आ जाती तो हमें भी बचने की जगह न मिलती। ब्रेक लगाते-लगाते भी नियंत्रण नहीं बन रहा था। इस पर बड़े-बड़े पत्थर भी थे। गिरने के पूरे योग थे, हालाँकि गिरे नहीं। नीचे नदी के तल में एक परिवार अपनी बुलेरो से नीचे उतरकर खाना बनाने की तैयारियाँ कर रहा था। हम उनके पास से गुज़रे तो उन्होंने उसी भू-स्खलन के बारे में पूछा। उन्हें किसी ने बताया होगा कि आगे भू-स्खलन हुआ है, तो उन्होंने सोच लिया कि रास्ता बंद है और वे खाना बनाने में जुट गए। लेकिन फ़िलहाल तो रास्ता खुला था। क्या पता घंटे भर बाद, दो घंटे बाद जब वे खाना खाकर आगे बड़े तो भू-स्खलन हो जाए और रास्ता वास्तव में बंद हो जाए।

नदी पार करके अब बारी थी ऊपर सड़क तक चढ़ने की। यह चढ़ाई इतनी तेज़ और ख़तरनाक थी कि इसने होश उड़ा दिए। ज़्यादा वर्णन तो नहीं कर सकता, लेकिन इतना ही कहूँगा कि पहले गियर में, हाफ़ क्लच में और फुल थ्रॉटल में ही बाइक आगे चल पा रही थी और बार-बार अगला पहिया ऊपर हवा में उठ जाता था। ऊपर चढ़े तो हम घुर्मी पहुँच चुके थे।

एकदम ग़रीब-सा गाँव घुर्मी। सभी घर या तो कच्चे या फिर बाँस के बने। बल्कि यदि इसे बाँस का गाँव कहा जाए तो ग़लत नहीं होगा। बारह बज चुके थे और हमें ग्वालटार से चले हुए दो घंटे हो गए थे। बाँस की बनी एक दुकान के आगे बाइक रोक दी। बड़ी तेज़ धूप थी और मौसम इतना गर्म था, जितना भारत के मैदानों में मई में होता है। थोड़ी-सी कोल्ड ड्रिंक पी, थोड़े- से चिप्स खाए। भूख तो थी, लेकिन ज़्यादा खाने का मन नहीं हुआ। ज़्यादा खाएँगे तो नींद आएगी और हम आज फाफलू अवश्य पहुँच जाना चाहते थे। ख़राब रास्ता शुरू हो चुका था। अब पता नहीं कहाँ तक ख़राब रास्ता हो। फाफलू अभी भी 100 किलोमीटर दूर था। अगर अच्छा रास्ता हो, तो 4-5 घंटे लग जाने थे, लेकिन रास्ता ख़राब हो तो ऊपर वाला ही मालिक था।

आप दुविधा में हो और कोई आपको ऐसी बात कह दे, जो आप सुनना चाहते हों, तो वह बड़ी ख़ुशी का पल होता है। एक से पूछा कि ऐसा ख़राब रास्ता कितनी दूर तक है। उसने कहा- एक किलोमीटर तक। यह सुनते ही हम ख़ुशी से झूम उठे। बाइक का मीटर देखा और सुनकोसी नदी के पुल पर पहुँचने के लिए घुर्मी से भयंकर ढलान पर उतरने लगे। इस एक

किलोमीटर में ढलान तो था ही, पानी और बड़े-बड़े पत्थर भी थे। एक बार साइलेंसर पत्थर से टकराया और दो-तीन बार स्टैंड भी - खटाक्। हालाँकि नुक़सान कुछ नहीं हुआ। सुनकोसी पर बना पक्का शानदार पुल पार किया और थोड़ा-सा आगे ही गए कि बेहतरीन सड़क सामने दिख गई। फिर से मीटर देखा तो पूरा एक किलोमीटर ही दिखा रहा था।

अब यह अच्छा रास्ता कितनी दूर तक है, यह तो नहीं पता था। हम इसी में ही ख़ुश थे कि अच्छा रास्ता मिल गया। इसके अलावा अब चढ़ाई भी शुरू हो गई। थोड़ा ही आगे एक तिराहा मिला- ऊपर वाली सड़क ओखलढुंगा और नीचे वाली हलेसी जा रही थी। हम ऊपर वाली सड़क पर चल दिए। आगे-आगे एक बस चल रही थी, जिसके पीछे लिखा था- 'ट्राफीक नियम को पालन गर।' समझ तो आप गए ही होंगे कि इसका अर्थ है- ट्रैफ़िक के नियमों का पालन करें। 'गर' अर्थात 'कर' और 'नगर' अर्थात 'न कर'- मत कर।

सड़क थी तो सिंगल ही, लेकिन बेहतरीन बनी थी। चढ़ाई थी, तो बाइक पहले गियर में फुल थ्रॉटल में चलती रही। चढ़ाई का अंदाज़ा इस बात से ही लगाया जा सकता है कि सुनकोसी पुल समुद्र तल से 400 मीटर की ऊँचाई पर है। इसके बाद अगले 12 किलोमीटर में ही हम 1400 मीटर की ऊँचाई पर पहुँच जाते हैं। यानी प्रति किलोमीटर पर लगभग 100 मीटर की चढ़ाई। मानेभंज्याँग 1600 मीटर की ऊँचाई पर है और सुनकोसी पुल से यह 16 किलोमीटर दूर है। जो लोग नियमित ट्रैकिंग करते हैं, वे अच्छी तरह जानते हैं कि ट्रैकिंग में प्रति किलोमीटर पर 100 मीटर की चढ़ाई भी हमारा दम निकाल देती है। फिर यह तो सड़क थी। यह भी एक अच्छी बात थी कि सड़क शानदार थी, अन्यथा ख़राब सड़क होती तो बाइक नहीं चढ़ पाती।

साढ़े तीन बजे ओखलढूंगा पहुँचे। यह एक क़स्बा है और समुद्र तल से 1800 मीटर की ऊँचाई पर है। यह इसी नाम के ज़िले का मुख्यालय भी है। हमें भूख लगने लगी थी, इसलिए खाना खाना आवश्यक था। यहाँ रुकने और खाने की कोई तंगी नहीं है। एक रेस्टॉरेंट में गए वहाँ इस समय कुछ नहीं मिला। दूसरे में गए तो दाल-भात मिल गए। इस दुकान को तीन महिलाएँ संभाल रही थीं और हम विदेशियों, परदेशियों की उपस्थिति से ख़ुश भी थीं और शरमा भी रही थीं। हिंदी और अँग्रेज़ी उन्हें बिल्कुल नहीं आती थी। बड़ी मुश्किल से इशारे करके उन्हें बताया कि हमें केवल 'वेज' दाल-भात ही चाहिए। जब प्लेट भरकर भोजन आया तो इसमें चावल के साथ-साथ दाल, आलू की सब्ज़ी व उबली हुए सरसों की पत्तियाँ भी थीं। पता नहीं कि ये सरसों की ही पत्तियाँ थीं या कुछ और, लेकिन हमें तो सरसों की पत्तियाँ ही लगीं। ये हमें पहले भी खाने को मिली थीं और हमें ये अच्छी नहीं लगी थीं। यहाँ पता चला कि इन्हें ही 'वेज' कहते हैं।

असल में जब भात के साथ दाल और आलू आए तो कोठारी जी ने पूछ लिया- "वेज?" अर्थात इसमें माँस तो नहीं है? लड़की रसोई में गई और सरसों का भगोना उठा लाई और परोसते हुए बोली- "वेज।" यहाँ हमें संदेह हुआ कि कहीं ये लोग इसे ही 'वेज' तो नहीं कहते? हम 'वेज' कहते तो हमारा आशय शाकाहारी से होता, लेकिन यहाँ उबली हुई बे-स्वाद सरसों परोस दी जाती। इसके बाद भी कई बार ऐसा ही हुआ, तब हमें पक्का पता चल गया कि यही 'वेज' है। हमें यह सब्ज़ी निहायत नापसंद थी और हम इसे बिल्कुल भी नहीं

खाना चाहते थे। अब हम बड़ी दुविधा में पड़ गए थे। हम 'वेज खाना' ही लेना चाहते थे, लेकिन 'वेज' नहीं। कमाल यह हुआ कि सरसों बर्बाद न हो, इसलिए हमने दाल-भात माँगते समय यह कहना शुरू कर दिया था- "वेज मत देना।"

सवा चार बजे ओखलढूंगा से चल दिए। अभी भी फाफलू 60 किलोमीटर दूर था और हमें कम-से-कम ढाई-तीन घंटे लगने थे। यहाँ से आगे फिर से बड़ी तेज़ चढ़ाई मिली। 20 किलोमीटर बाद हम समुद्र तल से 3000 मीटर ऊपर थे। बाइक पहले गियर में ही चलती रही। ओखलढूंगा से जितना आगे चलते जाते, उतना ही हम बादलों में घुसते चले जाते। घने कोहरे जैसा माहौल था और सामने से आती किसी गाड़ी को चौकस करने के लिए बाइक की हैड-लाइट चलानी पड़ गई थी। चार-पाँच घंटे पहले हम 400 मीटर पर थे और अब 3000 मीटर पर। ठंड काफी लग रही थी। यह स्थान हमें बड़ा पसंद आया और इसकी तुलना मैं अपने देश के चोपता से करूँगा।

यहीं से हम ओखलढूंगा ज़िले से निकलकर सोलूखुंबू ज़िले में प्रवेश कर जाते हैं। एवरेस्ट सोलूखुंबू ज़िले में ही है। अब हमें अगले दो-तीन सप्ताहों तक सोलूखुंबू में ही रहना है।

क्या ग़ज़ब का एहसास था! सोलूखुंबू में प्रवेश! और इतना ज़ोरदार स्वागत! 3000 मीटर पर हम खड़े थे। नेपाल में इतनी ऊँचाई पर एकाध ही सड़क है। यहाँ तक कि नेपाल-तिब्बत सड़क भी नेपाल के अंदर कहीं भी इतनी ऊँचाई से नहीं गुज़रती। देखा जाए तो हम नेपाल की सबसे ऊँची सड़कों में से एक पर खड़े थे।

यह था सोलूखुंबू का प्रवेश-द्वार। ठंडा मौसम। गर्मी पीछे घुर्मी में ही छूट गई थी। नेपाल घूमने वालों को इस स्थान को भी अपनी लिस्ट में शामिल कर लेना चाहिए। सड़क मार्ग से जुड़ा है। गाड़ी से आओ। टैंट लगाओ और मौसम का आनंद लो। यहाँ से पता नहीं कौन-कौन-सी हिमालयी चोटियाँ दिखाई देती होंगी, हम बादलों की वजह से नहीं देख सके। क्या पता एवरेस्ट भी दिखती हो। थोड़ा ही आगे पत्ताले बाज़ार है, जहाँ रुकने के लिए होटल मिल जाएँगे।

इसके बाद उतराई आरंभ हो जाती है। जैसी अभी चढ़ाई थी, वैसी ही ज़ोरदार उतराई है। कुछ ही देर में हम 1800 मीटर पर पहुँच जाते हैं- सोलू नदी के किनारे। पुल से नदी पार करते हैं और फिर फाफलू की चढ़ाई आरंभ कर देते हैं। यहाँ एक-दो जगह भू-स्खलन के कारण रास्ता ख़राब हो गया था। किलोमीटर के पत्थर नहीं लगे थे। सलेरी को हमने फाफलू मान लिया। फिर भी मन की तसल्ली के लिए एक से जब पूछा तो पता चला कि यह फाफलू नहीं है, बल्कि दो किलोमीटर और आगे है। यह निराशा की बात नहीं थी, क्योंकि अभी सवा सात बजे थे। अँधेरा होने लगा था और गाड़ियों की लाइटें चलने लगी थीं। फाफलू समुद्र तल से लगभग 2500 मीटर ऊपर है।

एक होटल के सामने कोठारी जी खड़े मिले। उन्होंने हमारे पहुँचने से पहले ही सब पूछताछ कर ली थी। होटल मालिक भी साथ ही था। कोठारी जी ने बताया- "नीरज, यहाँ कमरा फ्री है, लेकिन वाई-फ़ाई नहीं है। जबकि उस सामने वाले में 300 रुपये का कमरा है और फ्री वाई-फ़ाई है।" वैसे तो मुझे वाई-फ़ाई होने या न होने से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता था, लेकिन कोठारी जी की इच्छानुसार 300 वाले होटल में चले गए। होटल का प्राँगण थोड़ा

ऊपर था, सीढ़ियों पर ईंटें लगाकर बाइक प्राँगण में ही ले गए। इसमें होटल मालिक ने काफी सहायता की।

यहाँ हमें पहली बार एहसास हुआ कि एवरेस्ट बेस कैंप की ट्रैकिंग में कैसा माहौल रहने वाला है। एक सँकरी-सी गैलरी और उसके बाद डाइनिंग रूम, जहाँ दो विदेशी बैठे थे। हमें देखते ही 'हेलो' का आदान-प्रदान हुआ। इसके बाद हम कमरे में पहुँचे। प्लाई की दीवारें थीं। दो कमरे लिए, एक अपने लिए और एक कोठारी जी के लिए। छोटे-छोटे कमरे थे। दीवारों से सटकर दो बेड लगे थे। दोनों बेड के बीच में इतनी ही जगह थी कि आपका सामान उसमें अच्छी तरह रखा जा सके। साथ ही बेड भी इतने ही चौड़े थे कि एक ही व्यक्ति लेट सके। इन्हें यदि ऐसा कहा जाए कि 'डोरमेट्री' का प्लाई लगाकर 'पार्टीशन' कर दिया, तो ज़्यादा ठीक रहेगा। दो स्विच थे, एक बल्ब जलाने के लिए और एक चार्जिंग आदि के लिए। बाथरूम-टॉयलेट कुछ दूर थे। साफ़-सफ़ाई अच्छी थी।

2500 मीटर की इस ऊँचाई पर अच्छी-ख़ासी ठंड थी।

हमें बाइक चलाते हुए छः दिन हो गए थे और 1481 किलोमीटर बाइक चला भी चुके थे। यहाँ आकर बड़ा सुकून मिला कि हमें अब बाइक नहीं चलानी है। कल 15-20 किलोमीटर और चलना है, फिर कम-से-कम दो सप्ताहों तक बाइक को हाथ भी नहीं लगाना। बाइक से हम थक चुके थे और जल्द-से-जल्द इसे छोड़कर ट्रैकिंग आरंभ करना चाहते थे। कल वो दिन भी आ जाएगा।

डाइनिंग रूम में गए। दाल-भात के लिए कह दिया। विदेशी सूप सुड़क रहे थे। होटल की बागडोर तीन महिलाओं के हाथ में थी। तीनों को हिंदी न के बराबर आती थी, अँग्रेज़ी थोड़ी-बहुत आती थी। लेकिन आश्चर्य इस बात का था कि टी.वी. पर स्टार प्लस चल रहा था- हिंदी में। और तीनों खाना बनाने और परोसने से ज़्यादा इसे देखने में व्यस्त थीं। मैंने हिंदी, अँग्रेज़ी के मिश्रण को नेपाली जैसा बनाने की कोशिश करते हुए पूछा- "तूमे हिंदी नहीं आता, पिर बी हिंदी चैनल क्यों देख रहा है?" जवाब मिला- "अच्चा लगता है।"

दाल-भात के साथ आलू की स्वादिष्ट सब्ज़ी और सबसे स्वादिष्ट मूली-प्याज-टमाटर का सलाद। लेकिन उबली हुई सरसों- 'वेज' भी थी, जिसे हमने वापस कर दिया।

अब हम अत्यधिक महँगे इलाक़े में प्रवेश कर चुके थे। एक नज़र यहाँ के मेनू-काई पर भी डाल लेनी चाहिए- दाल-भात 380 रुपये, एक आलू पराठा 385 रुपये, एक प्लेट चाऊमीन 320 रुपये, सूप 150 रुपये, एक उबला अंडा 60 रुपये, प्लेन आमलेट 140 रुपये, 600 एम.एल. की 65 रुपये एम.आर.पी. वाली कोल्ड ड्रिंक की बोतल 150 रुपये, दूध की चाय 70 रुपये। ये फाफलू के रेट हैं। यहाँ तक सड़क बनी है और सभी सामान सड़क मार्ग से आसानी से आ जाता है। इसके बाद पैदल रास्ता है। जितना हम आगे बढ़ते जाएँगे, उतनी ही महँगाई बढ़ती जाएगी। यह इस ट्रैक का एक बेहद चुनौतीपूर्ण मामला है, जिसकी वजह से बहुत सारे ट्रैकर्स यहाँ नहीं आ पाते।

खाना खाकर तुरंत ही बिस्तर में जा घुसे। बेहद थके हुए थे। पर्वतीय रास्तों पर दिनभर में 200 किलोमीटर बाइक चलाना वैसे भी काफ़ी थका देता है। कल दुम्जा में जहाँ गर्मी में मरे जा रहे थे और होटल वाले से एक घंटा ज़्यादा जनरेटर चलाने की गुज़ारिश कर रहे थे,

वहीं आज रजाइयाँ ओढ़नी पड़ गईं। वाक़ई ठंड ग़ज़ब की चीज़ है। थोड़ी-सी गर्मी हो, आप बेहाल हो जाओगे। लेकिन कितनी भी ठंड हो, रजाई ओढ़ते ही उतना ही अच्छा लगेगा।

प्रत्येक घुमक्कड को यथासंभव मई-जून में हिमालय में ही रहना चाहिए। इस समय ऊँचाइयों पर बर्फ़ भी भरपूर होती है और बारिश का भी उतना ख़तरा नहीं। हाँ, चौमासे में नीचे उतरना न भूलें।

सातवाँ दिन: फाफलू से ताकशिंदो-ला

१५ मई 2016

कोठारी जी हमसे पहले ही उठ गए थे। वैसे वे हमेशा ही हमसे पहले उठ जाते थे, लेकिन हमें नहीं उठाते थे। यह उनकी एक अच्छी आदत थी। न हमें कोई जल्दी थी और न ही कोठारी जी को। उनकी आँख खुल गई, वे उठ गए। हमारी खुलेगी, तो हम भी उठ जाएँगे।

१०० रुपये में आधी बाल्टी गर्म पानी मिला। हमने इसमें कुछ ठंडा पानी मिला लिया और मेरे व कोठारी जी के हाथ-मुँह धोने लायक पर्याप्त पानी हो गया। कोठारी जी पहले हाथ-मुँह धोने गए, तो उनका नहाने का मन कर गया और वे आधी बाल्टी पानी में नहा लिए। बाक़ी आधी बाल्टी मेरे लिए बच गया। और जब मैं हाथ-मुँह धोने गया, तो मेरा भी मन करने लगा कि नहा लूँ। साबुन लगाकर उसी में मेरा भी नहाना हो गया।

नाश्ता करने बैठे तो सबसे बड़ी दिक़्क़त आई कि क्या लें। नाश्ते में ज़्यादातर अमेरिकन भोजन था और हमें लग रहा था कि इतना महँगा है और कम भी मिलेगा। आख़िर में चाय, टोस्ट और आमलेट लिए। पेट तो नहीं भरा, लेकिन 1000 रुपये से ज़्यादा ख़र्च हो गए।

अब तो इसी तरह ख़र्चा होगा।

पता चला कि ताकशिंदो-ला तक बाइक चली जाएगी। इतनी जानकारी तो मुझे पहले भी थी, लेकिन खारीखोला के रहने वाले एक मित्र फुरबा ने कई दिन पहले ही चेता दिया था कि बाइक से ताकशिंदो-ला भूलकर भी मत जाना, बल्कि बाइक फाफलू में खड़ी कर देना। फाफलू से ताकशिंदो-ला 16-17 किलोमीटर दूर है और ऊँचाई है 3000 मीटर।

लेकिन यहाँ जब बताया गया कि ताकशिंदो-ला तक बाइक चली जाएगी तो मन में लालच जाग गया। फाफलू से आगे एक किलोमीटर तक ही पक्की सड़क है, उसके बाद कच्चा रास्ता है। हमने यही सोचा कि कच्चा रास्ता है, तो ख़राब भी होगा। लेकिन कितना भी ख़राब हो, बाइक तो चली ही जाएगी। यह हमारी इस यात्रा की सबसे बड़ी भूल थी। यहाँ फाफलू में कोई अगर कह देता कि बाइक मत ले जाओ, तो हम बाइक यहीं छोड़ने को पहले ही तैयार थे। लेकिन ऐसा किसी ने नहीं कहा।

फाफलू में हवाई अड्डा भी है। सुबह मौसम थोड़ा ख़राब था। इसलिए काठमांडू से कोई फ़्लाइट नहीं आ सकी। इस फ़्लाइट की प्रतीक्षा यहाँ कुछ लामा और कुछ विदेशी कर रहे थे। आख़िरकार 11 बजे ख़बर आई कि काठमांडू से हवाई जहाज़ उड़ चुका है और थोड़ी देर में वह फाफलू आ जाएगा। सभी के चेहरे पर ख़ुशी साफ़ दिखाई देने लगी। मैं इन विदेशियों से ख़ूब बातें करना चाहता था, लेकिन मुझे इनका लहज़ा समझ नहीं आता। कोई नेपाली या भारतीय कठिन अँग्रेज़ी भी बोले, तो समझ जाता हूँ; लेकिन अगर कोई यूरोपियन या अमेरिकन आसान अँग्रेज़ी भी बोलता है, तो सब सिर के ऊपर से गुज़र जाता है। समझ ही नहीं आता। यह बात इस यात्रा की मेरी सबसे बड़ी कमज़ोरी बनने वाली है।

११ बजे हम भी चल दिए। एक तो उठे भी देर से थे और सबसे बड़ी बात कि हमें किसी भी तरह की जल्दी नहीं थी। 11 बज गए तो बज गए; कोई बात नहीं।

फाफलू से निकलते ही सड़क ख़त्म हो गई और कच्चा रास्ता आरंभ हो गया जो जल्दी ही मुश्किल होने लगी। पानी का एक नाला पार किया और उसके बाद तो हमारी व मोटरसाइकिल की शामत आने लगी। पहला गियर, हाफ़ क्लच और इंजन की फुल स्पीड। इंजन पहले कभी इतनी स्पीड पर नहीं चला था। जंगल में बाइक की आवाज़ गूँज रही थी।

आख़िर में बाइक ने आगे बढ़ने से मना कर दिया। रास्ता चढ़ाई भरा तो था ही, साथ ही बड़े-बड़े पत्थर भी थे और आते-जाते ट्रैक्टरों ने गहरी लीक बना दी थी। दीप्ति को नीचे उतरकर धक्का देना पड़ा। थोड़ा आगे दीप्ति फिर बैठी, तो आगे फिर से ऐसी ही चढ़ाई मिल गई। बार-बार अगला पहिया ऊपर उठ जाता था, जिससे बाइक का संतुलन बिगड़ जाता। ऐसे में यह नीचे खाई में भी गिर सकती थी। एक बार पहाड़ की चट्टान और रास्ते के पत्थरों के बीच में बाइक ऐसी फँसी कि पास में काम कर रहे तीन-चार लोगों को आना पड़ा।

आगे कोठारी जी रुके मिले। उनकी बाइक से पेट्रोल टपक रहा था। मुझे तो नहीं पता कि यह कहाँ से टपक रहा था। उन्होंने बताया कि अभी धड़ाम से गिर पड़ा था, उसके बाद से टपक रहा है। तो या तो कहीं कोई पाइप ढीला हो गया है या टंकी में छेद हो गया है। चेक किया तो ऐसा कुछ नहीं था। बड़ा सुकून मिला। कोठारी जी से कह दिया कि ताकशिंदो-ला

तक बाइक नहीं ले जाएँगे, बल्कि थोड़ा ही आगे रिंगमो गाँव में कहीं खड़ी कर देंगे। कोठारी जी आगे चले गए और हम दोनों बेचारे फिर से संघर्ष करने लगे।

दीप्ति को ज़्यादातर पैदल ही चलना पड़ा। कई बार लीक में कीचड़ मिलता, तो मेरी प्राथमिकता पहाड़ की तरफ़ से निकलने की होती। लेकिन यदि पहाड़ की तरफ़ भी जगह न हो, तो मजबूरन खाई की तरफ़ से निकलना पड़ता। एक तो पहले से ही फिसलन और फिर लीक व खाई के बीच में बमुश्किल एक-दो फुट की जगह मिलती। ऐसी जगहों को पार करने में साँस अटक जाती।

पछता रहा था कि फुरबा की सलाह क्यों नहीं मानी? कच्चा रास्ता है- यह सुनकर भी फाफलू में क्यों बाइक नहीं छोड़ी? अब हम रिंगमो तक भी बाइक नहीं ले जाएँगे। उससे पहले ही कहीं खड़ी कर देंगे।

लेकिन पछताने भर से क्या होता है, अगर कारण पर अमल न किया जाए? पछता ज़रूर रहे थे, कारण भी हमें पता थे, लेकिन ओखली में सिर भी दिए जा रहे थे।

रिंगमो से पहले एक गाँव मिला- दो तीन घरों का। अच्छी जगह पर बसा है। मौसम अच्छा होता तो सामने दूधकुंड की तरफ़ की बर्फ़ीली चोटियाँ दिखाई देतीं। उधर सोलू नदी के पार जीरी से आती पगडंडी भी दिखने लगी थी। वह पगडंडी रिंगमो में सोलू नदी को पार करेगी और फिर ताकशिंदो-ला जाएगी। हमें भी वही पगडंडी पकड़नी है।

यहाँ कुछ देर आराम किया तो कुछ दूर तक समतल रास्ता दिखाई दिया। फिर कोठारी जी भी आगे ही थे, इसलिए सोचा कि रिंगमो तक तो बाइक से चलते ही हैं। फिर सामने से दो स्थानीय बाइक वाले आते दिख गए। वे हँसते हुए यह कहते निकल गए- "पहाड़ पर ऐसे ही रास्ते होते हैं।" इससे थोड़ा- सा हौंसला मिला- ओखली में और ज़्यादा सिर देने का।

किसी तरह रिंगमो पहुँचे। दीप्ति को अभी भी पैदल ही चलना पड़ा। मैंने सोचा कि यहाँ कोठारी जी खड़े मिलेंगे और हम दोनों बाइकों को कहीं उचित स्थान पर खड़ा कर देंगे। लेकिन कोठारी जी नहीं मिले। रिंगमो भी पार हो गया और आगे जाकर एक बैंड से दाहिने मुड़ गया। रास्ता अब चौड़ा अवश्य हो गया था, लेकिन ख़राब और भी ज़्यादा होने लगा था। अब पत्थर तो नहीं थे, लेकिन ट्रैक्टरों की वजह से लीक काफ़ी गहरी हो गई थी। बैंड के बाद अब मैं रिंगमो के ऊपर पहुँच गया। इस बात का एहसास होते ही वहीं रुक गया। पीछे- बहुत पीछे- दीप्ति आ रही है। रिंगमो में मैं नहीं मिलूँगा, तो उसे अच्छा नहीं लगेगा। फिर फुल थ्रॉटल पर चलते इंजन को भी आराम की ज़रूरत थी। क्लच प्लेट अब दिक़्क़त करने लगी थी। कई बार तो क्लच लीवर पूरा छोड़ देता, इंजन पूरी स्पीड पर चलता रहता और बाइक एक इंच भी नहीं आगे नहीं बढ़ती। इससे क्लच पर बहुत बुरा असर पड़ना ही था। ऐसे में मुझे पैर से थोड़ा धक्का लगाना पड़ता और बाइक धीरे-धीरे चलने लगती।

मुझे कोठारी जी पर भी ग़ुस्सा आ रहा था कि वे रुके क्यों नहीं, जबकि रिंगमो में रुकने की बात हुई थी। बाद में पता चला कि उन्हें पता ही नहीं चला कि कब रिंगमो आया और कब चला गया। बात भी सही थी। रिंगमो असल में पैदल पगडंडी के इर्द-गिर्द बसा है। अब यहाँ सड़क बनाने का काम शुरू हुआ तो उसे गाँव से बाहर ही बाहर बनाया गया। इससे हमें पता ही नहीं चलता कि रिंगमो कहाँ है। हाँ, कुछ घर अवश्य दिखते हैं।

मैं रिंगमो से थोड़ा ऊपर जहाँ रुका हुआ था, वहाँ खच्चर वाले गैस सिलेंडर खच्चरों पर बाँध रहे थे। इस स्थान की ऊँचाई 2890 मीटर थी। इसका अर्थ है कि ताकशिंदो-ला- 3000 मीटर- अब ज़्यादा ऊपर भी नहीं रह गया है। दीप्ति की प्रतीक्षा करने लगा। आधे घंटे तक वह नहीं दिखी, तो मैं बाइक की सीट पर ही लेट गया और सो गया। मेरे बराबर से ही पगडंडी भी सड़क को काट रही थी। दीप्ति सड़क से आएगी, तब भी मिलेगी और यदि पगडंडी से आएगी, तब भी मिल जाएगी। एक घंटे बाद आँख खुली। दीप्ति नहीं आई। मोबाइल में नेटवर्क नहीं था। कोठारी जी ऊपर ताकशिंदो-ला पहुँच गए होंगे।

दीप्ति की तरफ़ से चिंता होने लगी। डेढ़ घंटा हो गया। अब तक तो उसे आ जाना चाहिए था। कहीं वह ग़ुस्सा होकर नीचे ही किसी जगह पर तो नहीं बैठ गई? उसे पैदल आना पड़ रहा था। उसे लग रहा होगा कि मैं तो बाइक पर मज़े से चला गया, पैदल चलने को उसे छोड़ गया। बाइक वापस मोड़ ली और दो किलोमीटर पीछे जाकर रिंगमो के निचले हिस्से में पहुँचा। यहाँ पगडंडी जहाँ सड़क को काट रही थी, वहीं कुछ लोग काम कर रहे थे। पूछा तो पता चला कि पीले कपड़े पहने एक लड़की पौने घंटे पहले पगडंडी से ऊपर गई है। मुझे फिर भी यक़ीन नहीं हुआ तो पूछ लिया- “उसके हाथ में क्या था?” तपाक् से उत्तर मिला- “हेलमेट।” अब तो संदेह की कोई बात ही नहीं थी। फिर से बाइक मोड़ी और दो किलोमीटर का चक्कर लगाकर रिंगमो के ऊपर उसी स्थान पर पहुँचा, जहाँ डेढ़ घंटे तक रुका रहा था। यहाँ भी वही पगडंडी सड़क को काट रही थी। बाइक किनारे खड़ी करके थोड़ा नीचे उतरकर एक होटल में पूछताछ की तो पता चला कि पीले कपड़ों और हाथ में हेलमेट वाली लडकी पंद्रह मिनट पहले ही यहाँ से ऊपर गई है।

सुकून की साँस ली। दीप्ति का पता तो चला। अगर मैं उसे खोजने नीचे न जाता, तो वह मुझे यहाँ मिल भी जाती। वह सोच रही होगी कि मैं ताकशिंदो-ला पहुँच गया होऊँगा और मज़े से कुर्सी पर बैठकर चाय पी रहा होऊँगा। हो सकता है कि ग़ुस्से में लाल-पीली भी हो रही हो। उसका ग़ुस्सा करना जायज़ भी था। रिंगमो में मिलने और बाइक खड़ी करने की बात हुई थी। न मिले, न बाइक खड़ी हुई। मुझे तो उसका पता भी चल गया, उसे तो बेचारी को मेरा पता भी नहीं था।

एक के बाद एक कई बैंड हैं और हर बार यह सड़क पगडंडी को काटती है। गहरी लीक के कारण सड़क की बुरी हालत। बाइक में से जलने जैसी गंध भी आने लगी। अब जब फुल स्पीड पर इंजन चलेगा और बाइक इंच-इंच करके आगे बढ़ेगी, तो क्लच प्लेटें जलेंगी ही। पैरों से बाइक धकेलनी पड़ रही थी। हर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर इंजन बंद करना पड़ता। उसे भी साँस मिलती और मुझे भी।

आख़िरकार चौथे मोड़ पर जहाँ सड़क-पगडंडी एक-दूसरे को काट रही थीं, दीप्ति नीचे से आती दिखाई दी। मैं भी ख़ुश हुआ और उसकी भी ख़ुशी का ठिकाना नहीं रहा। उसने बताया कि रिंगमो के नीचे जहाँ सड़क-पगडंडी पहली बार एक-दूसरे को काट रही थीं, वह कुछ देर रुकी थी। जिन लोगों से मैंने उसके बारे में पूछा था, उनसे उसने पानी भी लिया था। उन्होंने उसे पगडंडी से जाने की सलाह दी थी, क्योंकि यह छोटा रास्ता था। अन्यथा दीप्ति सीधे सड़क से ही आती।

आख़िरकार 3000 मीटर ऊँचे ताकशिंदो-ला पर पहुँच ही गए। इसके बाद ढलान आरंभ हो जाता है। यह रास्ता दर्रे के उस तरफ़ थोड़ा-सा नीचे ताकशिंदो मोनेस्ट्री तक जाता है। कोठारी जी यहाँ नहीं दिखे, तो इसका यही अर्थ था कि वे नीचे उतर गए हैं और मोनेस्ट्री पर पहुँच गए हैं। लेकिन मेरी नीचे उतरने की हिम्मत नहीं पड़ी। पता नहीं कितना नीचे मोनेस्ट्री है और फिर वापसी में बाइक उतनी ऊपर भी चढ़ानी पड़ेगी। क्लच-प्लेट ख़राब हो चुकी है। अगर हम यहीं ताकशिंदो-ला पर रुकते हैं तो वापसी में केवल नीचे उतरने का ही काम रहेगा। तब क्लच-प्लेट साथ न भी देगी, तब भी हम फाफलू तक तो पहुँच ही जाएँगे।

ताकशिंदो-ला पर कुछ होटल हैं। एक में गए उसने बाइक रखने से मना कर दिया। दूसरे ने भी मना कर दिया। लेकिन सभी लोग एक-से नहीं होते। एक हँसमुख चेहरा था और उसने ख़ुशी-ख़ुशी कह दिया कि बाइक वहाँ दीवार के पास खड़ी कर दो।

समय देखा- चार बजे थे। हम फाफलू से ग्यारह बजे चले थे। दूरी तय की केवल 17 किलोमीटर। डेढ घंटा रिंगमो में खड़ा रहा। इस तरह इस 17 किलोमीटर की दूरी को तय करने में साढ़े तीन घंटे लग गए। इसी से इस रास्ते की कठिनाइयों का अंदाज़ा लगाया जा सकता है। पता होता, तो हम बाइक फाफलू में ही छोड़कर यहाँ तक पैदल आते।

लेकिन एक सुकून अवश्य मिला। अब हमें कई दिनों तक बाइक नहीं चलानी है। अब यहाँ से एवरेस्ट बेस कैंप की ट्रैकिंग आरंभ होगी। अब वो समय शुरू हुआ है, जिसके लिए हम इतने उत्साहित थे, जिसके लिए इतनी दूर आए थे।

हम इसी होटल में रुक गए। बारिश होने लगी थी। उधर कोठारी जी ताकशिंदो मोनेस्ट्री पर हमारी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। शायद हमारे लिए कमरा भी ले लिया हो। उन तक अपनी सूचना पहुँचाना आवश्यक था। हमारे मोबाइल में नेटवर्क नहीं थे। उधर जाता कोई आदमी नहीं मिला, तो बारिश रुकने पर स्वयं ख़ाली हाथ वहाँ जाने का इरादा कर लिया। यहाँ से ज़्यादा दूर भी नहीं है। लेकिन जैसे ही बारिश रुकी, उधर से कुछ लोग आए। हमें देखते ही बोले- “आप इंडियन हैं?” मैंने कहा- “हाँ।” बोले- “उधर आपका एक आदमी फ़लाँ होटल में रुका हुआ है। “यह बात इस होटल के मालिक ने भी सुन ली। ख़ुश-मिजाज़ आदमी था। तुरंत कोठारी जी वाले होटल में फोन मिला दिया। नतीज़ा यह हुआ कि हमारी कोठारी जी से बात हो गई और एक-दूसरे को अपनी-अपनी सलामती की सूचना भी दे दी। सुबह सात बजे यहाँ से प्रस्थान कर देने को भी कह दिया।

होटल वाले की तारीफ़ करने का बड़ा मन हो रहा है, लेकिन शब्द नहीं मिल रहे। इतने घोर व्यावसायिक पथ पर एक इंसान ऐसा मिला, जिसमें इंसानियत थी। जो आपके हँसने के साथ ख़ुद भी लोटपोट हो रहा था। अपनी भी सुना रहा था और आपकी भी सुन रहा था। ऐसे इंसान यात्राओं में कम ही मिलते हैं, लेकिन जब मिलते हैं तो यात्रा ख़ुशनुमा हो जाती है।

यह कमरा 200 रुपये का था। 500 रुपये के दो प्लेट मोमो आए। हमने कहा- “वेज-मोमो।” और उसने वही ‘वेज’ भरकर मोमो बना दिए, जो हमें सख़्त नापसंद थे। यहाँ हमने निर्णय लिया कि अब के बाद कभी भी हम ‘वेज’ शब्द का इस्तेमाल नहीं करेंगे। अगर हम

‘वेज मोमो’ न कहते, तो हमें बंदगोभी के मोमो मिलते, जो इससे सैकड़ों गुना ज़्यादा अच्छे होते। और रात में 400 रुपये के एक प्लेट दाल-भात खाए। कमरे ऊपर पहली मंज़िल पर बने थे और नीचे बाथरूम-शौचालय थे। होटल नया बना था और पूरी तरह लकड़ी का था। पिछले साल आए भूकंप में इसे थोड़ा-सा नुक़सान पहुँचा था, जो अब पूरी तरह ठीक कर लिया गया है।

मौसम साफ़ हो गया, तो दूधकुंड की तरफ़ की चोटियाँ दिखाई देने लगीं। यहाँ से दो दिन लगते हैं दूधकुंड पहुँचने में और रास्ते में कुछ भी खाने-ठहरने को नहीं मिलता। साल में एक बार- शायद भाद्रपद में- मेला लगता है। बड़ी संख्या में लोग जाते हैं।

दूधकुंड एक काफ़ी बड़ी झील है जो लगभग ४५०० मीटर की ऊँचाई पर स्थित है। दूधकुंड से ही सोलू नदी निकलती है, जो आगे जाकर कहीं दूधकोशी नदी में मिल जाती है। दूधकोशी गोक्यो इलाक़े से निकलती है। दूधकोशी और सोलू नदियों के बीच में जो पर्वत धार है, उसी पर ताकशिंदो- ला है।

आठवाँ दिन: ताकशिंदो-ला से जुभिंग

१६ मई **2016**

सुबह छ: बजे ही उठ गए। दीप्ति को नहाने की ज़रूरत थी, 150 रुपये का एक बाल्टी गर्म पानी मिला, वह नहा आई। एक तो हम ट्रैकिंग में नहाते नहीं और अगर नहाने का मन भी करे तो गर्म पानी इतना महँगा है कि कई बार सोचना पड़ता है। मैं कल नहा लिया था, इसलिए आज नहीं नहाया। अब आगे पता नहीं कब नहाना हो।

१४० रुपये की दो कप चाय और 250 रुपये का एक ऑमलेट मिला। यह इस ट्रैक की शुरुआत है। अभी इतनी महँगाई है, तो आगे और भी ज़्यादा महँगाई मिलने वाली है। वैसे तो हमारे पास पर्याप्त पैसे थे, लेकिन फिर भी हम रोज़ के ख़र्चे और बाक़ी बचे पैसों व बाक़ी बचे दिनों का हिसाब एक काग़ज़ पर नोट करते जाते थे। कहीं ऐसा न हो कि किसी दिन हमें पता चले कि केवल दो दिन के पैसे ही बचे हैं। यहाँ आपके पास पैसे नहीं हैं, तो आपकी कोई पूछ नहीं। हमें पैसे कम होते प्रतीत होंगे, तो नामचे बाजार में ए.टी.एम. मिल जाएगा।

हमने कल फाफलू में ही ऐसा सामान अलग कर लिया था, जिसे हम ट्रैक पर नहीं ले जाएँगे। कुछ कपड़े थे और मोटरसाइकिल का थोड़ा-सा सामान था। इरादा था कि जहाँ भी मोटरसाइकिल खड़ी करेंगे, वहीं इस सामान को छोड़ देंगे। और इसे एक बैग में रखकर कोठारी जी की बाइक पर बाँध दिया था। तब क्या मालूम था कि हमारी मोटरसाइकिलें अलग-अलग स्थानों पर खड़ी होंगी! वो सारा सामान अभी भी कोठारी जी के पास ही था और वे उसे वहीं रख देंगे। इधर हमने दोनों हेलमेट, हवा भरने वाला पंप और एकाध कोई और सामान यहीं छोड़ दिया। इन्होंने ख़ुशी-ख़ुशी इसे अपने पास रख लिया। मोटरसाइकिल में वैसे तो दो-तीन तरह के 'लॉक' थे, लेकिन हमने कोई नहीं लगाया। यहाँ तक कि हैंडिल लॉक भी नहीं। कम-से-कम 15 दिनों के लिए मोटरसाइकिल यहाँ रहेगी। क्या पता कैसी ज़रूरत पड़ जाए? अगर इन्हें मोटरसाइकिल किसी वजह से थोड़ी-बहुत हटानी पड़ जाए, तो उसके लिए ऐसा किया। चोरी होने का हमें कोई डर नहीं था। लेकिन संभावना तो हर चीज़ की हर जगह होती है।

सवा सात बजे हम ताकशिंदो-ला से चल दिए। यहाँ ठीक दर्रे पर एक द्वार बना है और कुछ बौद्ध-चक्र लगे हैं, जिन्हें घुमाते हुए पैदल-यात्रा का पहला क़दम रखा। पहला क़दम। यह यात्रा ट्रैकिंग के लिए की जाती है। हम पिछले एक सप्ताह से चल रहे थे, लेकिन सही मायनों में पहला क़दम आज रखा। यही पहला क़दम हमें मंज़िल तक भी पहुँचाएगा।

पशुपतिनाथ से लाया नारियल हमारे बैग में था और हम उसे फोड़ना भूल गए।

ताकशिंदो-ला लगभग 3000 मीटर की ऊँचाई पर है। अब हमें लगातार नीचे उतरना है और 1500 मीटर नीचे बह रही दूधकोशी नदी को पार करके फिर से चढ़ाई आरंभ कर देनी है। यानी हमें 1500 मीटर तक लगातार नीचे ही उतरते जाना है और लगातार इतना नीचे उतरना कभी भी आसान नहीं होता। इस समय तो हमें इसका ज़रा भी अंदाज़ा नहीं था, लेकिन नीचे उतरकर पता चला कि ट्रैक के आरंभ में ही इस भीषण उतराई ने हमें कितना नुक़सान पहुँचाया।

पंद्रह मिनट में ताकशिंदो मोनेस्ट्री पहुँच गए। यहाँ कोठारी जी चलने को तैयार बैठे मिले। उनकी बाइक भी बहुत अच्छी तरह खड़ी हो गई थी और होटल मालिक ने उसे एक तिरपाल से ढककर मौसम व धूप से भी सुरक्षित कर दिया था।

ताकशिंदो मोनेस्ट्री को ताकसिंदू मोनेस्ट्री भी कहते हैं और यह यहाँ की एक मुख्य मोनेस्ट्री है। हमारी इच्छा भीतर जाने की नहीं हुई, इसलिए नहीं गए।

रात हुई बारिश से रास्ता फिसलन भरा हो गया था। इसलिए नीचे उतरने में अतिरिक्त सावधानी की आवश्यकता पड़ रही थी। कोठारी जी का भी इसमें बुरा हाल हो गया। वे किसी तरह एक क़दम उतरते, फिर रुक जाते, फिर एक क़दम उतरते, फिर रुक जाते।

वाक़ई रास्ता काफ़ी फिसलन वाला था। फिर लगातार आते-जाते खच्चरों ने इसे और भी मुश्किल बना दिया था। इन्हें खच्चर न कहकर 'खच्चर-ट्रेन' कहना चाहिए। एक 'ट्रेन' में बारह खच्चर होते हैं और एक आदमी एक ट्रेन का मालिक होता। आगे बेस कैंप तक सारा सामान इन्हीं के सहारे पहुँचाया जाता है, इसलिए अनगिनत 'ट्रेनें' चलती हैं। एक के पीछे एक। जब एक 'ट्रेन' आती तो हमें उन्हें रास्ता देने के लिए और स्वयं सुरक्षित रहने के लिए एक तरफ़ खड़े हो जाना पड़ता। रास्ता इनकी लीद के कारण दुर्गंधयुक्त हो गया था। मक्खियाँ भिनभिनातीं और हमें इसी कीचड़ में से निकलना पड़ता।

ऐसे में कैसे स्पीड से चलते?

दस बजे एक छोटे झूला पुल के पास रुके। इस स्थान की ऊँचाई थी 2545 मीटर। कोठारी जी पीछे थे, तो उनकी प्रतीक्षा करने लगे। अब रास्ता सूखा था। बारिश केवल दर्रे के पास ही हुई थी, नीचे के इलाक़े में कोई बारिश नहीं हुई थी। तेज़ धूप भी थी। यहाँ से ऊपर काफ़ी दूर तक का रास्ता दिख रहा था। एक आदमी ख़ूब सारे कंबल लादकर चल रहा था। वह कंबलों की चलती-फिरती दुकान था। पुल के पास एक घर से एक महिला बाहर निकली और कंबलों के लिए मोलभाव करने लगी। बेचारे ने कई कंबल खोलकर दिखाए, लेकिन महिला को कोई भी पसंद नहीं आया। नहीं लिया। उसने अपनी 'दुकान' समेटी और आगे बढ़ गया। हमने पूछा- "कहाँ तक जाओगे?"

बोला- "नामचे तक।"

"और अगर नामचे तक ये सारे न बिके तो?"

"कोई बात नहीं, इनकी नामचे में बहुत माँग है।"

धीरे-धीरे चलते हुए कोठारी जी आए। हमें उनकी इस कम चाल से कोई दिक़्क़त नहीं थी। दिक़्क़त बस एक ही थी। हमें 1500 मीटर तक नीचे उतरकर फिर ऊपर चढ़ना है।

आज हम 2000 मीटर से कम पर रात नहीं रुकना चाहते थे। अन्यथा गर्मी लगेगी। उतराई में हमारे पैर ज़रूर दुःखते हैं, लेकिन स्पीड बनी रहती है और हम देर तक बिना रुके चल सकते हैं। चढ़ाई में बार-बार रुककर साँस लेनी पड़ती है। मैं इस उतराई का यही फ़ायदा उठाना चाहता था, ताकि समय रहते कम-से-कम खारीखोला तक यानी 2100 मीटर तक पहुँच सकें।

आधा घंटा और चलकर नुनथला पहुँचे। यहाँ बहुत सारे होटल हैं। हमें यहाँ नहीं रुकना था, लेकिन कुछ खाने-पीने के लिए थोड़ी देर रुक गए। कोठारी जी दूर अपनी उसी स्पीड, एक क़दम, आराम, एक क़दम, आराम, से आते दिख रहे थे।

इसके बाद हम एक घंटा और चलकर एक गाँव के पास रुक गए। अब तक हम 2050 मीटर तक आ गए थे। दूधकोशी अभी भी 500 मीटर और नीचे थी। साढ़े बारह बजे थे और गर्मी चरम पर थी। एक पेड़ की छाँव में खड़े थे। पास ही पानी का पाइप था, बोतल भर ली। अब तक हमारे भी पैर जवाब देने लगे थे। सुबह से लगभग 1000 मीटर नीचे उतर चुके थे। इतनी दूरी आपके पैरों को दुखाने के लिए काफ़ी होती है। और अगर आपने आज ही ट्रैक आरंभ किया है, तो पैर दुखेंगे ही दुखेंगे। अक्सर इस तरह के ट्रैक नहीं मिलते कि शुरुआत ही ढलान से हो।

आधा घंटा और चले, फिर जंगल शुरू हो गया। यह जगह हमें आराम करने के लिए सर्वोत्तम लगी। उपयुक्त स्थान देखकर दोनों बैठ गए।

नारियल याद आया। तुरंत उसे बैग से निकाला। हिलाकर आवाज़ सुनी तो पता चला कि उसमें पानी है। हम इस नारियल-पानी की एक बूँद भी नहीं गिराना चाहते थे। इसलिए इसे पत्थर पर मारकर नहीं फोड़ा। इसकी एक आँख में पेन से छेद कर दिया। लेकिन इस ज़रा-से छेद से पानी थोड़े ही निकलता? और फिर दूसरी आँख फोड़ने में हम पसीने-पसीने हो गए, लेकिन कामयाबी नहीं मिली। पेन ख़राब हो गया। एक नुकीले पत्थर से काम निकालना चाहा, लेकिन कामयाब तब भी नहीं हुए। आधे घंटे की मशक़्क़त के बाद भी जब कुछ नहीं हुआ तो समूचे नारियल को ही फोड़ने का मन बना लिया। फिर सीमित बल लगाकर इसे पत्थर पर पटका, तो इसमें दरार पड़ गई। यह दरार हम दोनों को एक-एक घूँट नारियल पानी देने के लिए पर्याप्त थी।

जब मैं छोटा था- पाँच-छह साल का रहा होऊँगा- तो एक शारीरिक परेशानी पैदा हो गई थी। दाहिने हाथ की पहली दोनों उँगलियों के बीच में रक्त-प्रवाह वाली नस फूल गई थी। इसमें दर्द नहीं होता था और दबाने पर दब जाती, छोड़ने पर फिर फूल जाती। ज़्यादा तो नहीं फूलती थी, लेकिन जितनी भी फूलती थी, स्पष्ट दिखती थी। इससे दिक़्क़त कुछ नहीं थी- न दर्द होता था, न काम करने में बाधा होती थी और न कुछ और। फिर आगामी सालों में धीरे-धीरे यह बढ़ने लगी और कलाई के पास तक आ गई। सामान्यतया दर्द नहीं होता था, यहाँ तक कि क्रिकेट में तेज़ गेंदबाजी करते समय भी नहीं। लेकिन बाद में केवल सर्दियों में थोड़ा-सा दर्द होने लगा। यह ख़तरे का सूचक था। फिर एक डॉक्टर से संपर्क किया। उसने तुरंत सर्जरी कराने की सलाह दी।

सर्जरी में मुझे बेहोश नहीं किया गया। पहला इंजेक्शन लगाते समय थोड़ा-सा दर्द हुआ,

उसके बाद बिल्कुल भी दर्द नहीं हुआ। मेरे मुँह पर एक कपड़ा डाल दिया गया, ताकि मैं सर्जरी और ख़ून न देख सकूँ। 15-20 मिनट में सर्जरी पूरी हो गई। कुल मिलाकर पाँच टाँके लगे। कुछ दिन बाद जब टाँके खुलवाने गए और पहली बार हाथ से पट्टी उतारी गई, तो मुझे कलाई के पास थोड़ी-सी नस फूली हुई दिखाई दी। डॉक्टर से कहा तो उसने उल्टा मुझसे ही पूछ लिया- "क्या यह भी फूली हुई नस ही है?"

"हाँ।"

"ओहो! हमने सोचा कि यहाँ इंजेक्शन लगने से सूज गया है और इसकी सर्जरी नहीं की।"

तो जहाँ-जहाँ टाँके लगे थे, वहाँ-वहाँ बिल्कुल ठीक हो गया; लेकिन जो हिस्सा छूट गया था, वहाँ बीमारी बनी रही और आगामी सालों में धीरे-धीरे यह बढ़ने लगी। वैसे तो अभी भी यह ग़ौर करने पर ही दिखाई देता है, लेकिन इससे सबसे बड़ी परेशानी है, हर साल सर्दियों में दर्द होना। कभी-कभी जब कम्प्यूटर पर ज़्यादा देर तक लगा रहता हूँ, तब भी हल्का दर्द हो जाता है।

आज भी इसमें दर्द होने लगा था। हालाँकि अभी तक हम उतने ठंडे इलाक़े में नहीं गए थे, लेकिन कल पाँच घंटे तक मोटरसाइकिल में हमने जो ज़ोर लगाए, पहले गियर में फुल 'थ्रॉटल' पर जो मोटरसाइकिल चलाई, उससे लंबे समय तक मोटरसाइकिल में ज़्यादा कंपन (वाइब्रेशन) रहा, उससे शायद हाथ के इस हिस्से को नुक़सान पहुँचा हो। जो भी हो, फ़िलहाल इस समय इसमें ख़ूब तेज़ दर्द हो रहा था। हाथ नीचे लटकाता तो दर्द बढ़ जाता, ऊपर उठाने से आराम मिलता। इसका मैंने आज तक कोई इलाज नहीं कराया था, कोई दवाई नहीं ली थी। होता ही कभी-कभार था, और वो भी सर्दियों में। थोड़ी देर दर्द होकर फिर आराम लग जाता, तो इलाज कराने की आवश्यकता महसूस नहीं हुई। अभी भी हमारे पास ऐसा कोई तरीक़ा नहीं था, जिससे इसका दर्द कम किया जा सके।

डेढ़ घंटे तक जंगल में आराम करने के बाद आगे चल दिए। हमें भूख लगने लगी थी और उम्मीद थी कि थोड़ा और नीचे उतरकर दूधकोशी के पास कोई-न-कोई दुकान अवश्य मिलेगी। पैर हमारे भी दुःखने लगे थे और हम दूधकोशी पर रुकने के बारे में सोचने भी लगे थे। मौक़ा मिले तो आप कभी पहले ही दिन 1000 मीटर नीचे उतरकर देखना, पैर न दुखें तो कहना।

तेज धूप अवश्य थी, लेकिन जंगल होने के कारण अब यह उतनी नहीं लग रही थी। हवा भी नहीं चल रही थी, जिसके कारण पसीना ख़ूब आ रहा था। ऊँचाई लगातार कम होती जा रही थी, जिससे गर्मी बढ़ रही थी। वापस ताकशिंदो-ला की तरफ़ देखा, तो वहाँ बादल-ही-बादल थे। शायद बारिश भी हो रही हो।

आधा घंटा चले और हमें कुछ होटल दिखाई दिए। होटल दिखते ही हम और तेज़ी से उतरे और पहले ही होटल में शरण ले ली। नहाने का मन हो रहा था, लेकिन चूँकि हम यहीं रुकने का मन बना चुके थे, तो सोचा कि थोड़ी देर रुककर नहा लेंगे। चाऊमीन बनवा ली और कोल्ड ड्रिंक के साथ खाने लगे। बड़ी भयंकर भूख लगी थी।

रुकने के बारे में पूछा तो पता चला कि यहाँ केवल डोरमेट्री ही उपलब्ध है। उसने हमें वो

कमरा भी दिखाया और सलाह दी कि हम यहाँ न रुकें बल्कि थोड़ा आगे जुभिंग गाँव में रुक जाएँ। इसका कारण तो उसने नहीं बताया, लेकिन जो मुझे लगा, वो यह था कि यह स्थान खच्चर वालों के लिए आरामगृह था। खच्चर वाले फाफलू से लंबी यात्रा करके एक दिन में यहाँ तक आ जाते हैं और अक्सर यहाँ रुकते हैं। अब खच्चर वाले यहाँ रुकेंगे, तो शोर-शराबा भी होगा, मुर्ग़ा भी बनेगा, दारू भी चलेगी। और एक अकेली डोरमेट्री में यह सब होगा, तो शायद हमें वहाँ अच्छा नहीं लगेगा। इसलिए उसने जो भी सलाह दी, बड़ी अच्छी सलाह थी।

पीछे-पीछे कोठारी जी भी आ गए। पसीने से लथपथ और हाँफते हुए। अब यह कहने की आवश्यकता ही नहीं है कि उनकी हालत बिल्कुल भी ठीक नहीं थी। अनुभवी ट्रैकर जानते हैं कि एक ही दिन में 1500 मीटर नीचे उतरने पर पैरों की क्या हालत होती है। सुबह जब हमने ट्रैक आरंभ किया था, तब और बात थी। अब सब बदल चुका था और अब और बात है। सुबह हमारी कोशिश थी कि ढलान पर तेज़ी दिखाई जाए और यथासंभव कम समय में अधिक दूरी तय की जाए। अब हम तीनों के पैरों ने जवाब दे दिया था और फ़िलहाल कोई भी चलने की स्थिति में नहीं था। ख़ुशी इस बात थी कि अब हमें और नीचे नहीं उतरना है, बल्कि ऊपर चढ़ना है। लगातार नीचे उतरते रहने से पैरों की यह हालत हुई है, ऊपर चढ़ने से कम-से-कम इसमें बढ़ोत्तरी तो नहीं होगी।

कोठारी जी जुभिंग तक जाने के लिए बिल्कुल भी तैयार नहीं थे। उन्हें बड़ी मुश्किल से समझाया कि वो सामने जुभिंग का प्रवेश-द्वार (स्वागत-द्वार) दिख रहा है और हम वहाँ पंद्रह मिनट में पहुँच जाएँगे। कोठारी जी ने समझा कि हम झूठ बोल रहे हैं और उनका उत्साह बढ़ाने को ऐसा कह रहे हैं, “नहीं, तुम्हें पंद्रह मिनट लगेंगे तो मुझे दो घंटे लग जाएँगे।” आख़िरकार सबके समझाने पर वे आगे बढ़ने को तैयार हो गए।

यहाँ से चलते ही दूधकोशी नदी पर एक लंबा झूला पुल आया। लंबा होने के कारण इसमें ज़्यादा कंपन हो रहे थे। लंबे पुलों से गुज़रना रोमांचक होता है और रोंगटे खड़े कर देता है, लेकिन ये बिल्कुल सुरक्षित होते हैं। इनकी चौड़ाई ज़्यादा नहीं होती। ये इतने चौड़े होते हैं कि अगर सामने से कोई खच्चर आ जाए, तो पुल पर उनसे टकराए बिना निकलना असंभव है।

पुल पार करते ही हम दूधकोशी के बाएँ किनारे पर आ जाते हैं। इस समय हम लगभग 1500 मीटर पर थे और इस ट्रैक की चढ़ाई अब शुरू होती है। ट्रैक भले ही ताकशिंदो-ला से 3000 मीटर से आरंभ हुआ हो, लेकिन इसकी चढ़ाई अब आरंभ हुई। अब हमें कुछ चढ़ाइयाँ, कुछ उतराइयाँ, फिर कुछ चढ़ाइयाँ, फिर कुछ उतराइयाँ तय करते हुए 5000 मीटर से भी ऊपर पहुँचना है।

अच्छी-ख़ासी चढ़ाई थी, लेकिन पूरे दिन चलने के बाद पहली बार हमें चढ़ाई मिली थी, इसलिए कोई दिक़्क़त नहीं हुई। कोठारी जी भी साथ-साथ ही रहे और दूधकोशी से चलने के ठीक पंद्रह मिनट बाद हम जुभिंग के प्रवेश-द्वार पर थे। थोड़ा-सा और चले और जुभिंग गाँव में प्रवेश भी कर गए। जो पहला ही होटल मिला, उसी में शरण ले ली। इसका नाम था कोंगड़े लॉज। ग़ौरतलब है कि थोड़ा आगे नामचे बाज़ार के सामने कोंगड़े नाम की एक

चोटी है। शायद यहाँ से दिखती भी हो, लेकिन इस समय ऊपर हर तरफ़ बादल-ही-बादल थे, इसलिए हमें कोई चोटी नहीं दिखी।

यह एक बड़ा ही 'ग़रीब-सा' होटल था। 150-150 रुपये के दो कमरे ले लिए। दो महिलाएँ थीं और दो-तीन बच्चे थे। सभी हमें देखकर बड़े ख़ुश थे। उन्हें न हिंदी आती थी और न ही अँग्रेज़ी। मुझे ऐसी जगहें बहुत पसंद हैं। दूसरों की देखा-देखी इन्होंने भी अपने घर की ऊपरी मंज़िल पर तख़्ते लगाकर काम-चलाऊ कमरे बना दिए। कोई आए तो ठीक, न आए तब भी ठीक। शायद सीजन में कोई आ जाता होगा, आजकल तो कोई नहीं आता होगा। हाँ, नीचे एक भरी-पूरी दुकान अवश्य थी। हमने 'डिनर' के लिए दाल-भात बनाने को कह दिया। साथ ही एक बात और कही- "वेज नेई बनाना।"

नहाने का बड़ा मन था। यहाँ हम अपने इस ट्रैक की न्यूनतम ऊँचाई पर थे। यहाँ नहा लिए तो ठीक, अन्यथा आगे शायद नहाना न हो। गर्म पानी बहुत महँगा मिलेगा, जबकि यहाँ ठंडे पानी से फ़्री में नहाया जा सकता था। लेकिन इतने थके हुए थे कि कमरे में जाते ही पसर गए। एक घंटे तक बेसुध पड़े रहे, यहाँ तक कि दरवाज़ा भी बंद नहीं किया। एक घंटे बाद जब उठे तो पैर अकड़ गए थे और हम तीनों चलने में असमर्थ थे। किसी तरह कमरे से बाहर निकले और क़दम-क़दम पर 'आई-उई' चिल्लाते हुए थोड़ा टहले। बाहर बारिश हो रही थी, मौसम में ठंडक हो गई थी। अब नहाने का मन बदल चुका था।

यही इस यात्रा की एकमात्र ऐसी जगह थी, जहाँ हमें रसोई में बैठकर भोजन करने का मौक़ा मिला। हालाँकि यहाँ 'डाइनिंग रूम' अवश्य था, लेकिन महिलाओं ने हमें रसोई में ही बुला लिया। रसोई भी एक बड़ा कमरा ही थी और कई लोगों के भोजन करने के लिए ठीकठाक इंतज़ाम था। हालाँकि सफ़ाई उतनी नहीं थी। भरपेट दाल-भात 200 रुपये के थे, जो निहायत ही सस्ते थे। सब्ज़ी और दाल स्वादिष्ट बनी थी, हमने ख़ूब खाई।

रात में किवाड़ खुली छोड़कर ही सो गए। इतनी ऊँचाई पर मई में पंखा चलाने की आवश्यकता होती है। पंखा यहाँ था नहीं, तो किवाड़ खुली रखने पड़े। फिर भी यहाँ हमें सुरक्षा की किसी भी तरह की परेशानी नहीं हुई।

आज लगभग 10 किलोमीटर चले। इनमें 9 किलोमीटर ढलान और 1 किलोमीटर चढाई थी।

नौवाँ दिन: जुभिंग से बुपसा

17 मई 2016

जुभिंग को अँग्रेज़ी में 'जूविंग' लिखते हैं। यह एक ग्राम विकास कमेटी भी है। यहाँ से आगे और लुकला के पास स्थित चौंरीखर्क तक जुभिंग ग्राम विकास कमेटी का ही इलाक़ा है। उसके बाद चौंरीखर्क ग्राम विकास कमेटी का इलाक़ा आरंभ हो जाता है।

कल जब हम यहाँ आए थे तो नीचे दुकान में एक प्लेट में कुछ आड़ू रखे थे। ये आड़ू निश्चित ही इन्होंने अपने पेड़ों से तोड़े होंगे। हमने इन्हें लेने का मन बना लिया था। सोचा कि अगर बीस रुपये का एक आड़ू भी होगा, तब भी ले लेंगे। लेकिन जब भाव पता किया तो बिना देर किए सारे आड़ुओं पर क़ब्ज़ा कर लिया। पाँच रुपये का एक आड़ू। कुल 17 आड़ू थे, 85 रुपये के हुए। इतने महँगे इलाक़े में 85 रुपये में इतना सारा और पौष्टिक भोजन मिलना फ्री ही कहा जाएगा।

यह एक एकदम गुमनाम-सा गाँव था, ख़ासकर यह घर। ग़रीब लोग थे, इसलिए उसी हिसाब से कमरे बना रखे थे। यहाँ व्यावसायिकता उतनी नहीं थी। बिस्कुट का एक पैकेट

30 रुपये का मिला, तो हमने 7 पैकेट ले लिए। कल नुनथला में यही पैकेट 50 रुपये का था। और चाय भी दूसरों के मुक़ाबले बेहद सस्ती मिली, 35 रुपये कप। अन्यथा इधर 100 रुपये तक के भाव चल रहे थे।

साढ़े आठ बजे जुभिंग से चल पड़े। थोड़ा आगे एक दुकान में कुछ आड़ू और रखे मिले। हमने फिर से इन्हें लेने का मन बना लिया। अगर दस रुपये का एक आड़ू भी होगा, तब भी सभी को ले लेंगे। लेकिन बात की तो मालकिन 20 रुपये प्रति आड़ू से कम करने को तैयार नहीं हुई। हमने इन्हें नहीं लिया।

तेज़ चढ़ाई जारी रही। यह चढ़ाई 2800 मीटर ऊँचे खारी-ला पर ही समाप्त होगी। जुभिंग लगभग 1600 मीटर पर है। यानी खारी-ला पहुँचने के लिए हमें 1200 मीटर ऊपर चढ़ना पड़ेगा। एक दिन में इतना ऊपर चढ़ना आसान नहीं होता। इसलिए हमें आज ही खारी-ला पहुँचना मुश्किल भी लग रहा था। कल हम 1500 मीटर नीचे उतरे थे, जिसके कारण हम तीनों के पैर अकड़ गए थे। अब चढ़ना उतना मुश्किल तो नहीं लग रहा था, लेकिन थकान तो होती ही है। पसीना भी आता है। प्यास भी ख़ूब लगती है। हालाँकि पानी की कोई कमी नहीं।

जितना ऊपर चढ़ते जा रहे थे, दूधकोशी घाटी उतनी ही दूर तक दिख रही थी। लेकिन ऊपर बादल थे, इसलिए ऊपरी घाटी की बर्फ़ीली चोटियाँ दिखाई नहीं पड़ी।

खारीखोला एक बड़ा गाँव है। इस मार्ग पर चलने वाले ज़्यादातर खच्चर वाले और गाइड इसी गाँव के होते हैं। फ़ेसबुक की कृपा से शेरपा फुरबा से जान-पहचान हो गई थी, जो यहीं का रहने वाला था। मेरी इच्छा उससे मिलने की भी थी, लेकिन आजकल वह सपरिवार भारत गया हुआ था, तीर्थयात्रा करने। शेरपा बौद्ध धर्म को मानने वाले होते हैं, इसलिए उनके लिए तीर्थयात्रा का अर्थ है, नेपाल में स्थित लुंबिनी और भारत में स्थित कुशीनगर, बौद्धगया, सारनाथ आदि स्थानों की यात्रा करना। फुरबा भले ही यहाँ अपने गाँव, अपने देश में न हो, लेकिन फ़ेसबुक के माध्यम से मैं लगातार उसके संपर्क में था। वह थोड़ी-थोड़ी हिंदी भी पढ़ना और समझना जानता था। काफ़ी समय उसने कोलकाता में भी बिताया है। इधर हम नेपाली पढ़ तो सकते थे, लेकिन समझ नहीं सकते थे।

खारीखोला में प्रवेश करते ही एक मोनेस्ट्री है। यह थोड़ी ऊँचाई पर बनी थी और वहाँ पहुँचने के लिए सीढ़ियों का नवीनीकरण चल रहा था और एक प्रवेश-द्वार भी बनाया जा रहा था।

पिछले दो घंटे से हम लगातार ऊपर चढ़ रहे थे और 500 मीटर ऊपर आ गए थे। खारीखोला लगभग 2100 मीटर पर स्थित है। 'खोला' का अर्थ है एक छोटी नदी। ऐसी नदियों को भारतीय हिमालय में 'नाला' भी कहते हैं। खारीखोला गाँव पार करके एक बड़ा नाला भी है, शायद इसी का नाम 'खारीखोला' अर्थात खारी नाला हो।

वैसे तो खारीखोला में बहुत सारे होटल हैं, लेकिन हम पहले ही होटल हिल टॉप में रुक गए। भूख लगी थी और लगातार चढ़ते रहने से थकान भी बहुत हो गई थी। तेज़ धूप निकली थी और यहाँ आँगन के बीचोंबीच घना छायादार पेड़ लगा था। इस पेड़ का नाम तो मुझे नहीं पता लेकिन इसके नीचे कुर्सियाँ डालकर बैठने का आनंद ही अलग था। दाल-

भात खाने का मन नहीं था, लेकिन कोई और विकल्प न होने के कारण दाल- भात ही खाना पड़ा।

यहाँ कोठारी जी ने पहली बार अपना डी.एस.एल.आर. कैमरा निकाला। कल तो उनकी हालत बहुत ज़्यादा ख़राब थी, कैमरा निकालने के बारे में उन्होंने सोचा तक नहीं। अगर आज भी नीचे उतरना पड़ता तो हालत ख़राब ही होनी थी। आज चढ़ाई वाला रास्ता होने के कारण धीरे-धीरे अवश्य चल रहे थे, लेकिन फिर भी आराम था। आज कोठारी जी ने रास्ते से इधर-उधर हटकर भी कुछ फ़ोटो खींचे। उनका अच्छा मूड देखकर हमें भी अच्छा लगा।

साढ़े बारह बजे यहाँ से चल दिए। गाँव पार करके 'खोला' तक पहुँचने में आधा घंटा लग गया। यहाँ एक झूला पुल है। पुल पार करके एक 'घराट' है। पता नहीं नेपाल में 'घराट' (पनचक्की) को क्या कहते हैं। होटल से यहाँ तक रास्ता हल्के ढलान वाला था, इसके बाद फिर से तेज़ चढ़ाई आरंभ हो जाती है। कोठारी जी पीछे ही थे। हमने कुछ देर उनकी प्रतीक्षा की। जब वे आते हुए दिखने लगे, हम आगे चल दिए। आज उनका फ़ोटोग्राफ़ी करने का पूरा मूड था। वे ख़ूब रुक रहे थे और ख़ूब फोटो खींच रहे थे।

फिर आधा घंटा चले। ऊपर आसमान में काले बादल घिरने लगे थे। दोपहर को या दोपहर बाद आसमान में बादल घिर आना हिमालय की पहचान है। सुबह मौसम साफ़ होता है, दोपहर को बादल आने लगते हैं, दोपहर बाद बरस जाते हैं और शाम को फिर से मौसम साफ़ हो जाता है। यह हिमालय की विशेषता है। आज बादल कुछ पहले ही बनने लगे थे और बरसने भी लगे। 'सनराइज होटल' में शरण ली। यह खेतों में अकेला होटल है। एक घंटे से भी ज़्यादा यहाँ रुकना पड़ा।

बूँदाबाँदी नहीं रुकी, तो रेनकोट पहनना पड़ गया। रेनकोट पहनकर आगे बढ़े तो चढ़ाई के कारण पसीना आने लगा। बाहर से तो भीगे ही, अंदर से भी भीग गए। बुपसा गाँव दिखने लगा था। इसकी ऊँचाई लगभग 2500 मीटर है। जब तक हम बुपसा पहुँचे, तो बारिश अवश्य रुक गई थी, लेकिन चारों तरफ़ घनघोर काले बादल गरज रहे थे।

जब बुपसा गाँव में प्रवेश कर रहे थे तो सबसे पहले एक विज्ञापन पर निगाह गई। यह संडुप लॉज का विज्ञापन था और लिखा था कि यहाँ भारतीय भोजन मिलता है। हम दाल-भात खाते-खाते इतने परेशान हो गए थे कि यहीं रुकने के बारे में सोचने लगे। और मज़े की बात यह थी कि हम जिस भारतीय भोजन को करने की बात सोच रहे थे, वह पूरे रास्ते प्रत्येक होटल में मिलता आया, रोटी। यहाँ भी कोई विशेष नहीं था। 250 रुपये की एक रोटी बाक़ी पीछे अन्य होटलों में थी, यहाँ 300 रुपये की थी। साथ ही आलू का पराठा भी शामिल था, जो मेरा पसंदीदा है और बाक़ी जगहों पर नहीं था।

मैं फ़ोटो खींचने में थोड़ा पीछे रह गया। आगे गया तो देखा कि दीप्ति और कोठारी जी संडुप लॉज के सामने एक दूसरे होटल 'होटल इंटरनेशनल ट्रैकर' में बैठे हैं। इसकी मालकिन भी इनके साथ ही बैठी थी। मैं पहुँचा तो दीप्ति ने कहा, "यहाँ रुकना फ्री है, केवल खाने के पैसे लगेंगे।" मैंने तुलना करने को दाल-भात के पैसे पूछे तो बताया, 400 रुपये। यानी खाना दूसरों के मुक़ाबले बिल्कुल भी महँगा नहीं था।

अभी चार ही बजे थे। ऊपर काले बादल गड़गड़ा रहे थे। हल्की बूँदाबाँदी भी हो रही थी। दीप्ति आगे बढ़ना चाहती थी जबकि कोठारी जी रुकना चाहते थे। मैं आगे भी बढ़ना चाहता था और बादलों व कोठारी जी का मान भी रखना चाहता था। इस फ्री वाले होटल में भी रुकना चाहता था और सामने संडुप लॉज में आलू के पराठे व फ्री वाई-फ़ाई भी इस्तेमाल करना चाहता था। आख़िरकार मैं संडुप लॉज में पूछताछ करने गया। कमरों में वही दो-दो बिस्तर थे। एक कमरे के दो सौ रुपये। मैंने तीन बिस्तरों की बात की तो बताया कि तीसरा बिस्तर फ्री होगा और अलग कमरे में होगा। साथ ही चौबीस घंटे बिजली और फ्री वाई-फ़ाई का भी वादा किया। हम कई दिनों से इंटरनेट से दूर थे, इसलिए फ्री होटल वाली मालकिन को अलविदा कहा व संडुप लॉज में सामान जा पटका। सामान पटकने की आवाज़ सुनते ही इंद्रदेव के पास हमारे सुरक्षित हो जाने का संदेश पहुँच गया और बड़ी देर तक मूसलाधार बारिश होती रही। अच्छा हुआ कि रुक गए, अन्यथा बुरे भीगते।

लेकिन हम जितने ख़ुश थे, धीरे-धीरे सारी ख़ुशी गायब होने लगी। यहाँ की पोल तभी खुलनी शुरू हो गई, जब बिजली का स्विच ऑन किया। बिजली नहीं थी। वाई-फ़ाई भी नदारद और रजाइयाँ भी नहीं। थोड़ी देर में बिजली आई तो हम वाई-फ़ाई के लिए लॉज मालिक के पास पहुँचे। उसने वाई-फ़ाई तो चालू कर दिया, लेकिन स्पीड शून्य। मैं और कोठारी जी बड़ी देर तक वाई-फ़ाई बॉक्स के पास बैठकर मग़ज़मारी करते रहे। कुछ नहीं तो व्हाट्सएप ही चल जाता, तो जी ख़ुश हो जाता। लेकिन कुछ नहीं चला। निराश होना लाज़िमी था। कोठारी जी ने पहली शिकायत की, "वाई-फ़ाई नहीं चल रहा।" इसका कोई जवाब नहीं मिला तो हम कमरे में जाने लगे। तभी याद आया कि उसमें रजाइयाँ नहीं है। अब कोठारी जी ने दूसरी शिकायत की, "रजाई भी नहीं है।" जवाब मिला, "आप डिनर का ऑर्डर दे दीजिए। रजाइयाँ बाद में भिजवा दूँगा।" यह हमारे लिए एकदम अटपटा जवाब था। हमें ठंड लग रही थी। 2500 मीटर की ऊँचाई पर अगर बारिश हो रही हो तो ठंड लगेगी ही।

तभी कोठारी जी ने तीसरी शिकायत कर दी, "कमरे में चार्जिंग पॉइंट नहीं है। चार्जिंग कहाँ करें?"

पता नहीं बंदा किस मिट्टी का बना था, आपे से बाहर हो गया, "आपको यहाँ कोई दिक्कत है, तो दूसरे होटल में चले जाइए।" इसके बाद कोठारी जी और उसमें बहस होने लगी। मैंने बीच-बचाव किया, "भाई देख, हम ग्राहक हैं। हमें कोई असुविधा हो रही है तो हम किससे शिकायत करें? तुम शांत रहो और एक-एक शिकायत पर ध्यान दो। यह कहना बिल्कुल भी ठीक नहीं है कि होटल छोड़ दो।"

मन तो खट्टा हो ही चुका था। मैंने फिर कोठारी जी से कहा, "सर, होटल छोड़ देते हैं। सामने फ्री वाले में चलते हैं। केवल वाई-फ़ाई के लिए यहाँ आए थे, वह चल नहीं रहा।" कोठारी जी चलने के मूड में नहीं थे। बोले, "अब सारा सामान समेटना पड़ेगा।" मैंने कहा, "अगर हमें कोई असुविधा होगी तो यहाँ हम न कुछ कह सकेंगे और न माँग सकेंगे। यह शेरपा लड़का एवरेस्ट शिखर तक जा चुका है और इसलिए इसके भाव बड़े हुए हैं।" चारों दीवारों पर उसके फ़ोटो लगे थे।

इसके बाद कोठारी जी को सामने होटल इंटरनेशनल ट्रैकर में बात करने भेजा, “यह ज़रूर बता देना कि यहाँ इस तरह से झगड़ा हो गया है और इसलिए हम उसे छोड़कर आ रहे हैं। ये स्थानीय लोग हैं और इस लड़के का एक इशारा ही हमें पूरे गाँव में बदनाम करने को काफ़ी है।” कोठारी जी बात करके वापस लौटे तो बोले, “वहाँ हमारा स्वागत है।” हमने संडुप लॉज के मालिक को अलविदा कहा और सामने फ्री वाले होटल में आ गए।

संडुप लॉज में हम आलू के पराठे का ऑर्डर देने वाले थे, इसलिए यहाँ भी इसी के बारे में पूछा। होटल मालिक व मालकिन ने एक-दूसरे को देखा, फिर हमसे पूछा, “यह क्या होता है?” इसके बाद बारी थी मेरी और दीप्ति को एक-दूसरे को देखने की, “हम बनाएँगे।”

कुकर में आलू उबाले। भर-भरकर पाँच पराठे बनाए। दो कोठारी जी ने, एक-एक हमने और एक होटल मालिक ने खाया। शानदार अनुभव था। दीप्ति पराठे बना रही थी, मैं परोस रहा था और होटल मालिक बैठकर खा रहे थे। बाद में जब हमने पूछा कि पराठे कैसे लगे, तो उत्तर मिला, “बहुत शानदार, लेकिन मिर्ची बहुत ज़्यादा थी।”

यात्राओं में ऐसे अनुभव भी होते रहने चाहिए। यात्राएँ कभी भी नीरस नहीं होंगी। और ऐसे अनुभव अपने-आप नहीं हो जाते। आपका मन भी इन अनुभवों को स्वीकार करने वाला होना चाहिए। हम साहब बनकर पैर पर पैर रखकर बैठे होते तो यूँ पराठे बनाकर सबको खिलाने का अनुभव नहीं हासिल कर सकते थे।

इससे एक सबक भी मिला। जो ख़ुशी आलू के पराठों में मिलती है, वो फ्री वाई-फ़ाई में नहीं मिल सकती।

पतंजलि च्यवनप्राश का डिब्बा रखा देखा, तो बड़ा अच्छा लगा। विशुद्ध भारतीय उत्पाद भारत से निकलकर नेपाल में यहाँ अत्यधिक दूर-दराज़ में देखना विशिष्ट तो था ही। इसके अलावा ‘द्रुक’ के उत्पाद भी मिले। ‘द्रुक’ भूटान की कंपनी है। नेपाल के उत्पाद नगण्य हैं।

दो दिनों की ट्रैकिंग हो चुकी थी। बहुत सारी ‘खच्चर-ट्रेनों’ से सामना हुआ। एक ट्रेन में बारह खच्चर होते हैं। शेरपा फुरबा ने बताया कि इन बारह खच्चरों में भी एक खच्चर विशेष होता है और वह पूरे ग्रुप में सबसे आगे चलता है। अक्सर इस खच्चर को विशेष माला या टोप भी पहनाया जाता है। एक बात और हमने ग़ौर की, एक खच्चर-ट्रेन में पहले ग्यारह खच्चर होते हैं, फिर उनका मालिक होता है और सबसे पीछे बारहवाँ खच्चर चलता है। यह बारहवाँ खच्चर कभी-कभी तो आधा-आधा किलोमीटर तक पीछे हो जाता है, आराम से घास चरता हुआ चलता है और सबसे बड़ी बात कि मालिक की मार से भी बचा रहता है। लगभग प्रत्येक ग्रुप में हमने ऐसा देखा। लेकिन खच्चर-ट्रेन की जो सबसे बेकार बात लगती थी, वो थी कि सब खच्चर पादते हुए चलते हैं। और अगर आमने-सामने दो-तीन ‘ट्रेनें’ आ गईं, तो बड़ी आफ़त हो जाती है। साँस लेना मुश्किल हो जाता। जब भी ऐसी कोई संभावना दिखती, तो मैं पहले ही एक तरफ़ खड़ा हो जाता था और इनके आने से पहले ही फेफड़ों को भर लेता था, ताकि बदबू अंदर न जाए।

बुपसा से एक रास्ता अरुण घाटी में भी जाता है। आपको याद होगा कि सप्त-कोशी में अरुण नदी भी शामिल है। लेकिन यहाँ बुपसा से अरुण घाटी बहुत दूर है और कई छोटी-

छोटी घाटियों व दर्रों को पार करना होता है। बुपसा के ऊपर पहला दर्रा पांगकोंगमा-ला है, जो 3170 मीटर ऊँचा है। पांगकोंगमा- ला के उस तरफ़ इंखु खोला है, फिर किसी और दर्रे के लिए चढ़ाई शुरू हो जाती है। कुल-मिलाकर बड़ी दूर जाकर अरुण घाटी है। लेकिन सुना है कि रास्ते में रुकने और खाने को मिलता रहता है।

रात जब सोने लगे तो अपनी आज की 'उपलब्धियों' पर भी चर्चा करने लगे। आज हमारा ट्रैकिंग का दूसरा दिन था। हम 1600 मीटर से 2500 मीटर पर आ गए थे, यानी आज हम 900 मीटर ऊपर चढ़े। तकनीकी तौर पर यह एक दिन के लिए एकदम ठीक है। आज हम कोठारी जी की तरफ़ से बिल्कुल भी परेशान नहीं हुए। हाँ, कीचड़ के कारण, ख़ासकर खच्चरों द्वारा निर्मित कीचड़ के कारण रास्ते-भर मच्छर और मक्खियाँ ख़ूब मिले। छोटे-छोटे मच्छर जो आँख में घुसने को तैयार रहते, उन्होंने बड़ा तंग किया। फिर भोजन की भी समस्या बनी रही। ले-देकर एक ही विकल्प है- दाल- भात। हालाँकि मेन्यू-कार्ड में काफ़ी सारे 'आइटम' लिखे रहते हैं, लेकिन कुल-मिलाकर भोजन के ज़्यादा विकल्प नहीं हैं। हम भारतीयों को रोज़ अलग-अलग भोजन करने की आदत है। आज यहाँ बुपसा में हमने 'पोटैटो फ्राइड मोमो' भी बनवाए थे, जो काफी हद तक हमारे आलू-पकौड़े के बराबर हो गए थे। फिर आलू के पराठे तो बनाए ही। लेकिन यह सब रोज़-रोज़ तो नहीं हो सकता। खाने तो हमें दाल-भात ही पड़ेंगे।

और हाँ, आलू के उन पाँच पराठों के 1200 रुपये लिए। यह उनके मेन्यू में नहीं था, फिर भी उन्होंने आपस में गणना करके यह राशि बताई। इस समय तो 1200 रुपये बहुत महँगे लग रहे हैं, लेकिन कभी एवरेस्ट बेस कैंप जाना हो, तो आपको यह सस्ता लगेगा। जहाँ 200 रुपये की एक साधारण रोटी ही हो, 400 रुपये के एक प्लेट दाल- भात हो, वहाँ अपने हाथ का बना आलू का एक पराठा हमें 240 रुपये का पड़ा, यह सस्ता ही कहा जाएगा।

दसवाँ दिन: बुपसा से सुरके

18 मई **2016**

यहाँ बुपसा में 'होटल इंटरनेशनल ट्रैकर' में रुकने का एक फ़ायदा और भी हुआ। कल ही इन्होंने बता दिया था कि अगर खाना हमारे यहाँ खाओगे तो रुकना तो फ्री होगा ही, साथ ही एक बाल्टी गर्म पानी 100 रुपये का मिलेगा। अन्यथा यह 400 रुपये का मिलता। हमें नहाए हुए कई दिन हो गए थे, इसलिए सस्ते पानी की सुनते ही इस मौक़े को भी भुना लेने का विचार आने लगा। हम ज़्यादा ऊँचाई पर ट्रैकिंग नहीं कर रहे थे। अभी हम 2500 मीटर पर ही थे और नेपाल में मई में इस ऊँचाई पर ख़ूब उमस होती है। पसीना तो आता ही है। हमारे कपड़ों पर भी पसीने की सफ़ेद धारियाँ पड़ गई थीं। इसलिए नहाना ज़रूरी भी था।

पानी गर्म करने का इन लोगों का कोई ख़र्च नहीं होता। जंगल में लकड़ी आराम से मिल जाती है। फिर भी एक कप गर्म पानी भी फ्री नहीं मिलता। ठंडा पानी जितना चाहे, पीओ। लेकिन ठंडा पानी इतना ठंडा होता है कि नहाया नहीं जा सकता।

आज मौसम साफ़ था और उत्तर में कई बर्फ़ीली चोटियाँ भी दिख रही थीं। सुबह से ही हवाई-जहाजों की आवाजाही शुरू हो गई थी। काठमांडू से लुकला और लुकला से काठमांडू की उड़ानें साफ़ मौसम में ही संचालित होती हैं। दो दिनों से मौसम ख़राब था तो उड़ानें स्थगित थीं। जब तक मौसम साफ़ रहेगा, तब तक उड़ानें संचालित होती रहेगी। आसमान हवाई-जहाजों और हेलीकॉप्टरों की आवाज़ों से गूँजता रहा।

बुपसा के बाद भी चढ़ाई जारी रहती है। उधर पीछे मुड़कर देखने पर बहुत दूर ताकशिंदो-ला भी दिखने लगा और उसके नीचे मोनेस्ट्री भी और उससे नीचे नुनथला गाँव भी। हम कल्पना करते कि ताकशिंदो-ला से खारी-ला तक अगर सीधा पुल होता, तो कितना अच्छा होता। ताकशिंदो-ला 3000 मीटर पर है और खारी-ला लगभग 2800 मीटर पर। लेकिन हमें इन दोनों के बीच की दूरी तय करने के लिए पहले 1500 मीटर नीचे उतरना पड़ता है और फिर ऊपर चढ़ना पड़ता है। वापसी में जब हमें यहाँ से निकल भागने की जल्दी लगी होगी, तो यह 1500 मीटर ऊपर-नीचे आना-जाना मुश्किल पड़ेगा।

ताकशिंदो-ला पर हमारी मोटरसाइकिलें भी खड़ी थीं। हम कल्पनाशक्ति का प्रयोग करते हुए उन्हें देख भी लेते थे। वो खड़ी मोटरसाइकिल और हम तीन दिनों से चलते ही जा रहे हैं और उससे दूर जा रहे हैं। जब हम मोटरसाइकिल पर थे, तब ट्रैकिंग की कल्पना करने में आनंद मिलता था। अब जब ट्रैकिंग आरंभ हो चुकी है तो मोटरसाइकिल के बारे में सोचकर आनंद मिल रहा है। अज़ीब विरोधाभास!

बुपसा से खारी-ला दिखाई देता है। थोड़ा चक्कर काटकर जाना होता है। मौसम साफ़ था,

तो अच्छा भी लग रहा था। अन्यथा कीचड़युक्त रास्ते ने कोई कसर नहीं छोड़ रखी थी।

आठ बजे बुपसा से चलकर साढ़े दस बजे खारी-ला पहुँचे। यहाँ सोनम लॉज पर ऊँचाई लिखी थी- 2885 मीटर।

दर्रे हमेशा ही बेहद सुंदर स्थान होते हैं। खारी-ला भी अपवाद नहीं है। यहाँ से एक चोटी ने पूरे नज़ारे पर अधिकार जमा रखा था। शायद यह 'कोंगड़े' थी। उसके दाहिने दूर एक और चोटी थी। एक और तीसरी चोटी बिल्कुल दाहिने ज़रा-सी दिख रही थी। जानकार लोग इन सबका नाम बिना साँस लिए बता देंगे, लेकिन मैं जानकार नहीं।

खारी-ला की तो जितनी तारीफ़ करूँ, कम है। हम नकारात्मक ऊर्जा से भरे थे। कभी-कभार मन में आता कि वापस चलो। क्या करेंगे बेस कैंप जाकर? हर चोटी का एक बेस कैंप होता है। हमारे यहाँ कंचनजंघा का भी बेस कैंप है, नंदा देवी का भी है, बाक़ियों का भी है, जहाँ नियमित ट्रैकर्स जाते हैं। इसके साथ 'एवरेस्ट' शब्द जुड़ा है तो क्या हुआ? हम वहाँ पहुँच भी जाएँगे तो क्या होगा? यार-दोस्तों में नाम ही तो होगा। यहाँ की महँगाई और घोर व्यावसायिकता से भी बड़ी परेशानी हो रही थी। मुझे ट्रैकिंग में चाय बहुत पसंद है। भारतीय हिमालय में दस रुपये की चाय आपको स्थानीय लोगों से जोड़े रखती है। यहाँ 70 रुपये का चाय जैसा दिखने वाला गर्म पानी किसी से भी जुड़ाव नहीं होने दे रहा।

खारी-ला पर महँगाई और व्यावसायिकता तो कम नहीं थी, लेकिन यहाँ अच्छा लग रहा था। यहाँ इंटरनेट भी चल गया। मोबाइल टावर शायद लुकला या उसके आसपास ही कहीं लगा होगा। लुकला यहाँ से ज़्यादा दूर नहीं है। तो इसका अर्थ है कि जितना आगे हम चलेंगे, इंटरनेट उतना ही तेज़ चलेगा। हम अपने भारतीय मित्रों के संपर्क में आना चाहते थे और उनसे बात करके थोड़ी-सी नकारात्मकता कम करना चाहते थे।

महँगाई और घोर व्यावसायिकता होने के बावजूद भी एक बात अच्छी लगी। प्रत्येक घर एक होटल है और होटल मालिक आपको अपने यहाँ बुलाते नहीं हैं। आप चले आएँ तो ठीक, अन्यथा उन्हें आपसे कोई मतलब नहीं, कोई टोकाटाकी नहीं। आप उनके डाइनिंग रूम में जाइए ठंडा पानी पीजिए, घंटे-दो घंटे लंबे होकर पसरिए; कोई आपको नहीं टोकेगा। हाँ, रात रुकने की पहली शर्त यही है कि आपको केवल उन्हीं के यहाँ भोजन करना है। बाहर कहीं ढाबे नहीं होते, जहाँ सस्ता भोजन मिल सके। भोजन केवल इन होटलों में ही मिलता है और जितना आगे बढ़ते जाएँगे, उतना ही महँगा होता जाएगा।

खारी-ला पहुँचना आज का एक अहम पड़ाव था। मेरे पास पहले ही इस पूरी यात्रा का दूरी-ऊँचाई मानचित्र था, तो हमें कहाँ कितना चढ़ना है, कितना उतरना है; सब पता था। दूधकोशी पुल से खारी-ला तक लगातार तेज़ चढ़ाई थी, लेकिन अब कम-से-कम आठ किलोमीटर तक हमें लगभग समतल में चलना है और उसके बाद नीचे उतरना है।

रास्ता दाहिने मुड़ गया। अब हम एक अलग ही भूभाग में थे। रास्ता पहाड़ की उत्तरी ढलान पर था और हिमालय में उत्तरी ढलानों पर सबसे कम धूप पड़ती है। कम धूप के कारण नमी बनी रहती है और घना जंगल पैदा हो जाता है। उसी घने जंगल से हम गुज़र रहे थे। गाँवों से, खेतों से और होटलों के बीच से चलते जाने के बाद आज पहली बार चार किलोमीटर तक 'कुछ नहीं' मिला। बड़ा अच्छा लगा। इस जंगल में हिमालयन काला भालू

और तेंदुए अवश्य होंगे। लेकिन चलता-फिरता रास्ता है, इन जानवरों का उतना डर नहीं। हाँ, एक बात ने बहुत परेशान किया। एक तो प्राकृतिक नमी और ऊपर से 'खच्चर-ट्रेनों' का लगातार आवागमन। पूरा रास्ता बदबूदार कीचड़ से भरा हुआ है। आप जहाँ जंगल में होने का आनंद मनाते हो, वहीं कीचड़ और बदबू से परेशान भी हो जाते हो।

एक जगह ऊपर पहाड़ पर जाने की पगडंडी दिखाई दी। इसके पास एक पत्थर पर लिखा था- 'अरुण भैली जाने बाटो' अर्थात अरुण वैली जाने का रास्ता। यह पगडंडी आगे जाकर बुपसा से अरुण वैली जाने वाली पगडंडी में मिल जाती है। हमारा उधर जाने का कोई मतलब नहीं था, इसलिए हम सीधे अपने रास्ते चलते रहे।

आख़िरकार दो घंटे बाद पुल आया। पुल पार करते ही हम पहाड़ के दक्षिणी ढलान पर आ गए, जहाँ धूप की भरमार थी। रास्ता सूखा था और बदबू भी नहीं थी। हमारे दक्षिण में वही जंगल था, जिससे होकर अभी हम आए थे। इस जंगल को सामने से देखने पर पता चलता था कि वाक़ई घना जंगल है।

यह पैंया गाँव था। यहाँ से चार किलोमीटर आगे, खारी-ला के ठीक उत्तर में, इसी नाम का एक दर्रा भी है- पैंया-ला। गाँव में भी होटल हैं और पैंया- ला पर भी। हम चार बजे पैंया-ला पहुँचे। 80-80 रुपये की दो कप चाय पी। नेटवर्क और नेट दोनों बहुत अच्छे आ रहे थे।

हमने सुरके रुकने का मन बनाया। यहाँ से सुरके तक लगातार नीचे उतरते जाना है। एक घंटे में पहुँच जाएँगे। पीछे-पीछे कोठारी जी आ ही रहे हैं। हम उनके लिए कमरा लेकर रखेंगे। उन्हें अगर अँधेरा भी हो जाएगा, तब भी किसी तरह की दिक़्क़त नहीं होगी। पैंया-ला पर उनका नेटवर्क आ जाएगा और हमारी बात भी हो जाएगी।

पैंया-ला पर यह 'खुंबी ल्हा व्यू होटल एंड बार' था। खुंबी ल्हा कोई चोटी है, जो यहाँ से दिखती होगी। फिलहाल आसमान में बादल घिरने लगे थे, हमें कोई चोटी नहीं दिखी। और प्रत्येक होटल एक 'बार' भी होता है। दारू तो सर्वसुलभ है और हर जगह बड़े सजावटी तरीक़े से रखी मिलती है। हम दारू पीते नहीं थे और कोल्ड ड्रिंक छोड़ते नहीं थे। एक बार स्वाद कुछ जमा नहीं, एक्सपायरी डेट पर निगाह गई, तो पता चला कि दो साल पुरानी है। फिर तो हमने एक्सपायरी डेट देखकर ही कोल्ड ड्रिंक लेनी शुरू की।

रास्ता पहले तो उतराई का है, फिर और ज़्यादा उतराई का और फिर और भी ज़्यादा उतराई का। पैंया-ला के बाद रास्ता फिर से पहाड़ के उत्तरी ढलान पर हो जाता है और पुन: जंगल आरंभ हो जाता है। परसों ताकशिंदो-ला की उतराई का असर अभी भी पैरों में ख़ूब था, इसलिए उतरते हुए परेशानी हो रही थी। कीचड़ ख़ूब था और कैसा कीचड़ था, यह बार-बार बताने की आवश्यकता नहीं।

एक जगह बड़ी विशाल चट्टान टूटकर थोड़ा नीचे गिरी हुई थी। मैंने कहा, "यह पिछले साल के भूकंप का नतीजा है।" दीप्ति ने प्रत्युत्तर दिया, "नहीं, भूकंप इसके गिरने का नतीजा है।"

एक घंटे में सुरके पहुँच जाने का अंदाज़ा था, लेकिन डेढ़ घंटा हो गया, सुरके नहीं आया। छ: बज गए। अब जो भी पहला होटल मिलेगा, उसी में रुक जाएँगे।

ज़्यादा देर नहीं लगी। सुरके से काफ़ी पहले एक होटल मिला। इसका नाम था, 'खुंबू ला व्यू लॉज एंड रेस्टॉरेंट'। ऊपर पैंया-ला पर 'खुंबी ल्हा' था, यहाँ 'खुंबू ला' है। जैसे ही मालकिन ने कहा, 100 रुपये का कमरा है, हमने तुरंत दो कमरे ले लिए।

सात बजे तक भी कोठारी जी नहीं आए। अब अँधेरा होने लगा था, हमें चिंता हुई। क्या पता कोठारी जी आ रहे हों, क्या पता न आ रहे हों। आख़िरकार हमने उन्हें फ़ोन कर दिया। पता चला कि वे एक घंटे से पैंया-ला पर उसी 'होटल एंड बार' में कमरा लेकर रुके हुए हैं, जहाँ हमने चाय पी थी। मुझे तत्काल थोड़ा ग़ुस्सा भी आया, फ़ोन करके बता तो देते। लेकिन ग़ुस्सा ज़्यादा देर तक नहीं रहा। जितना भरोसा हमें उन पर है, उतना ही उन्हें हम पर भी है। हमारा आपसी तालमेल इतना बेहतरीन था कि हम एक-दूसरे की किसी भी तरह की चिंता नहीं करते थे। एक को अगर पनीर-पकौड़े खाने हों, तो... एक मिनट, पनीर-पकौड़े कहाँ से आ गए यहाँ? वो सब तो यहाँ से दूर, बहुत दूर भारत नामक देश में तले जा रहे होंगे। भारत के शहरों की शाम तो होती ही चाट और पनीर-पकौड़ों की है। तो एक को अगर दाल- भात खाने हैं और दूसरे को मोमो, तो आपस में किसी भी तरह की टोकाटाकी नहीं करते। हम आगे-आगे चलते रहे, कोठारी जी के लिए यह सामान्य बात थी और उन्होंने पीछे ही कमरा ले लिया, यह हमारे लिए सामान्य बात थी। मालकिन से कह दिया कि कोठारी जी नहीं आ रहे। मालकिन ने कहा, "ठीक है।" वैसे भी यहाँ केवल हम ही यात्री थे, कोई फ़र्क़ नहीं पड़ना था।

हम लगभग 2400 मीटर पर थे। रजाइयों की आवश्यकता महसूस नहीं हो रही थी। अपने-अपने बिस्तरों पर लेटकर मोबाइल में पुराने गाने चला दिए। एक के बाद एक गाने बजते रहे। और जब 'घर आ जा परदेसी, तेरा देस बुलाये रे' बजा तो आँखों से आँसू छलक उठे। हम अपने 'देस' को बहुत 'मिस' कर रहे थे। अपने हिमालय को याद कर रहे थे। हमारे हिमालय में ट्रैकिंग की बात ही अलग है। आपको रास्ते में कहीं गद्दियों के, कहीं गड़रियों के झोपड़े मिलेंगे। आपको दूध मिलेगा, खाना मिलेगा। पैसे भी नाममात्र के ही लगेंगे। चूल्हे के सामने बैठकर गर्मागर्म फुल्के खाओगे, अपने हाथ से कुकर में से सब्ज़ी लोगे, टोकरे में से प्याज़ उठाकर सलाद बनाओगे। वहीं सोने को मिल जाएगा। आप उनकी झोंपड़ी में अपनी सहूलियत के अनुसार एक ऐसा कोना ढूँढ़ोगे, जहाँ हवा कम-से-कम लगे, अपनी पसंद का कंबल उठाओगे और सो जाओगे।

आह! और कितना कहूँ उसके बारे में! यहाँ ऐसा कुछ नहीं। आप रसोई में नहीं जा सकते। यदि कोई दिलदार मेज़बान हुआ और आप रसोई में चले भी गए, तो भोजन आपको डाइनिंग रूम में ही करना पड़ेगा।

यही सब याद करते-करते सो गए।

ग्यारहवाँ दिन: सुरके से फाकडिंग

19 मई **2016**

कल ही हमने कोठारी जी को बता दिया था कि सात बजे यहाँ से चल देंगे और आपको यहाँ आने में एक-डेढ़ घंटा लग जाएगा। कोठारी जी ने कह दिया कि वे सात बजे तक आ जाएँगे। उनकी प्रतीक्षा करते-करते 'फ्राइड पोटैटो' बनवा लिए। उबले और तले हुए आलू हमें बहुत अच्छे लगे। दाल- भात से तो कई गुने अच्छे। साथ में चाय भी। चाय 50-50 रुपये की थी, आलू 240 रुपये की एक प्लेट मिले। पहले तो हमने सोचा था कि एकाध आलू उबालकर दे देंगे, लेकिन जब देखा कि पूरी भरी हुई प्लेट है, तो जी ख़ुश हो गया। भावी दिनों के लिए खाने की कोई ढंग की चीज़ तो मिली। 380 रुपये के एक प्लेट बे-स्वाद दाल-भात के मुकाबले यह सस्ता भी था और हमें थोड़ा स्वादिष्ट भी लगा। हम दोनों को दो प्लेट आलू खाने मुश्किल हो गए।

आज की हमारी योजना थी कि दोपहर तक ही चलेंगे और फिर गंदे हो चुके कपड़े धोएंगे। कपड़े भी धुल जाएँगे और शरीर को भी आराम मिलेगा। वैसे भी एक दिन के पूर्ण आराम की आवश्यकता महसूस हो रही थी। उधर पैंया-ला से कोठारी जी चल चुके थे। वे अपनी मस्तानी चाल से आते-आते आ ही जाएँगे। और इधर हम भी चल दिए। ढलान वाला रास्ता था। आसमान में हल्के बादल थे और लुकला से उड़ानें संचालित हो रही थीं। सामने ऊपर लुकला दिखाई भी दे रहा था। यहाँ के हवाई-अड्डे की गिनती दुनिया के सबसे ख़तरनाक हवाई-अड्डों में की जाती है।

लगभग 2300 मीटर पर एक पुल मिला। यहाँ सुरके गाँव है और इसे सुरके पुल भी कहते हैं। सुरके से दूधकोशी ज़्यादा दूर नहीं है, 100-200 मीटर ही नीचे होगी। मेरे मन में सवाल यह उठा कि दो दिन पहले जब हमने ताकशिंदो-ला से उतरकर दूधकोशी पार की थी तो वहाँ की ऊँचाई 1500 मीटर थी। सुरके 2300 मीटर पर है। अगर रास्ता दूधकोशी के साथ-साथ ही होता, तो हमें 2800 मीटर ऊपर खारी-ला नहीं चढ़ना पड़ता और खारी-ला से पैंया-ला की बहुत लंबी दूरी भी तय नहीं करनी पड़ती। रास्ता तो बन सकता है, शायद वहाँ रास्ता हो भी। लेकिन दूधकोशी बहुत गहरी घाटी बनाकर बहती है। ऐसे में रास्ता सुरक्षित नहीं होगा। भू-स्खलन भी हो जाता होगा, तो रास्ता ख़तरनाक हो जाता होगा।

अक्सर वापस लौटने का भी कई बार मन कर जाता था, लेकिन हमें बेस कैंप भी जाना था। एक ही बात हमें आगे बढ़ने की प्रेरणा दे रही थी, जिंदगी में एवरेस्ट बेस कैंप जाने का इसके बाद कभी भी मौक़ा नहीं मिलेगा। अपना पसंदीदा काम करने के मौक़ा सबको मिलते हैं, लेकिन आप उन्हें पहचान नहीं पाते। हमें बड़ी मुश्किलों से यह मौक़ा मिला था, इसे गँवा नहीं सकते थे।

सुरके से बाहर निकले ही थे कि कोठारी जी का फ़ोन आया, “नीरज, माफ़ करना भाई। मैं अब और नहीं चल सकता। आज मैं लुकला जाऊँगा और वापसी फ़्लाइट से करूँगा। मैं अभी उस जगह से निकला हूँ जहाँ तुम रात रुके थे।”

दीप्ति मुझसे थोड़ा आगे थी। मैंने रुकने के लिए आवाज़ लगाई, कोठारी जी ऐसे-ऐसे कह रहे हैं। हम वहीं उसी जगह रुक गए। हमें नहीं पता था कि 100 मीटर आगे ही लुकला का रास्ता अलग हो जाता है और वहाँ एक दुकान भी है। नहीं तो हम दुकान पर रुकते और उसके डाइनिंग रूम में बैठते। लेकिन फ़िलहाल हम यहीं बैठ गए। थोड़ी देर तो चुपचाप ही बैठे रहे, सोचते रहे। हमें इस तरह गुमसुम बैठे देख आने-जाने वाले अवश्य अंदाज़ा लगाते होंगे कि इन दोनों की लड़ाई हो गई है। एक ने तो टोक भी दिया। उसे हिंदी नहीं आती थी और हमें नेपाली नहीं। उसने गुमसुम बैठे होने की वजह पूछी। मैंने अँग्रेजी में कहा, “अबे, कोई वजह ना है, तू जा यहाँ से।” पट्ठा अड़ गया और ज़िद करने लगा। तब मैंने पूरे आवेश में उसे डाँट दिया। अँग्रेज़ी में मैंने उसे क्या कहकर डाँटा, यह तो याद नहीं; लेकिन जिंदगी में पहला मौक़ा था किसी को अँग्रेज़ी में डाँटने का। हिंदी में तो हमारे पास भंडार भरा पड़ा है किसी को डाँटने का, लेकिन अँग्रेज़ी बेचारी कितनी ग़रीब है! दो-चार शब्द ही हैं, आपको उन्हीं से काम चलाना होता है।

हम आपस में बात करने लगे। क्या वजह हो सकती है उनके इस फ़ैसले के पीछे? और इस प्रश्न का उत्तर एकदम सरल था। वे नहीं चल पा रहे थे। एक बात हमें और भी महसूस हुई। कल उन्होंने पूरी यात्रा अकेले ही की। थोड़ी देर के लिए खारी-ला पर हम मिले थे। आज भी वे अकेले ही रहे। अकेला थका हुआ आदमी यही सोचेगा। अब हमें महसूस होने लगा कि उनके साथ ही रहना है। निर्णय ले लिया कि आने दो उन्हें, हम उन्हें ‘मोटीवेट’ करेंगे और बेस कैंप तक की यात्रा में उनके साथ ही रहेंगे। वे धीरे चल रहे हैं, तो कोई बात नहीं। हमारे पास बहुत समय है। योजनानुसार हमें गोक्यो झील पर भी जाना है, लेकिन नहीं जाएँगे उधर। सारा समय बेस कैंप के लिए ही लगा देंगे। अब हम कितना भी धीरे चलेंगे, बेस कैंप तक तो चले ही जाएँगे। और यदि उसके बाद भी समय कम पड़ेगा, तो ऑफ़िस में एक फ़ोन भर करना है। समय की तरफ़ से हम पूरी तरह निश्चिंत थे। तो कोठारी जी कैसा भी चलें, कितना भी धीरे चलें, हम उनके साथ रहेंगे। अभी हम ‘हाई एल्टीट्यूड ज़ोन’ में नहीं पहुँचे थे, जहाँ हवा कम होने लगती है। अभी तो हम 3000 मीटर से नीचे ही थे, बल्कि 2800 मीटर से भी नीचे थे। इस ऊँचाई पर हवा का उतना असर नहीं होता। तो कोठारी जी ए.एम.एस. (एक्यूट माउंटेन सिकनेस) के शिकार हो गए होंगे, इसकी भी कोई संभावना नहीं थी। उन्हें एक दिन का आराम और थोड़ा-सा मोटीवेशन चाहिए। एक दिन का आराम तो हमें भी करना है। आज बारह-एक बजे तक भी नहीं चलेंगे। छेपलुंग के आसपास ही रुक जाएँगे।

कोठारी जी आए। थकान से एकदम चूर। बस किसी तरह स्वयं को आगे धकेल रहे थे। आराम की सख़्त, अत्यधिक सख़्त ज़रूरत। सामने वाले को ‘मोटीवेट’ करने का मेरा अपना तरीका है। किसी ट्रैक पर जाने से पहले मैं सामने वाले को ख़ूब हतोत्साहित करता हूँ ताकि वह विपरीत परिस्थितियों के लिए मानसिक रूप से तैयार हो जाए। पहाड़ फ़ोटो में बहुत ख़ूबसूरत होते हैं, लेकिन बहुत कम लोग जानते हैं कि इन ख़ूबसूरत फ़ोटो के पीछे कितना

पसीना बहाना पड़ता है। सामने वाला पसीना बहाने को तैयार नहीं है तो थोड़ा-सा हतोत्साहित करते ही पीछे हट जाएगा। लेकिन यदि आप पीछे नहीं हटे, तो आपके लिए मैं डटकर खड़ा रहूँगा।

कोठारी जी को हम आसानी से छोड़ने के मूड में नहीं थे। दो घंटों में हमने बैठे-बैठे यही काम किया कि उन्हें क्या परेशानी हो सकती है और कैसे उससे निपटना है। 'आप बेस कैंप जाओगे' यह कहने के बजाय मैंने कहा, "हम आज जो भी पहला होटल मिलेगा, उसी में रुक जाते हैं। बाक़ी का फ़ैसला कल करेंगे।" मुझे यक़ीन था कि एक दिन आराम करने से उन्हें बहुत फ़ायदा मिलेगा। लेकिन उन्होंने कहा, "नहीं, मैं नहीं चल सकता। बिल्कुल भी नहीं चल सकता। मेरी वजह से तुम लोगों को भी धीरे-धीरे चलना पड़ रहा है।"

हम दोनों ने उन्हें ख़ूब समझाया, लेकिन वे टस-से-मस नहीं हुए। उधर मुझे भी पता था कि यह इंसान अपना निर्णय आसानी से नहीं बदल सकता। फिर भी किसी भी तरह इन्हें आज पहले ही होटल में रुकने के लिए बाध्य करना है। दो मिनट चुप्पी रही। मैंने पूछा,

"वैसे जब आप चलते हो तो क्या होता है? पैर काँपते हैं या साँस उखड़ जाती है या कुछ और बात है?"

"हाँ, पैर भी काँपते हैं।"

"यह तो कोई बड़ी बात नहीं है। ट्रैकिंग में ऐसा हो जाता है। पहले ही दिन की उतराई ने हमारे पैरों की हालत ख़राब कर दी है। नीचे उतरते समय हमारे भी पैर काँप रहे हैं। आज जल्दी रुक जाते हैं, थोड़ी मालिश करेंगे, थोड़ा ठीक-ठाक भोजन करेंगे तो यह ठीक हो जाएगा। भोजन ठीक न होने से भी पैर काँपने लगते हैं।"

"नहीं होगा। मुझे लुकला जाना है।"

फिर से कुछ देर के लिए सन्नाटा छा गया।

"तो जब आप एक पैर उठाकर उसे थोड़ा आगे रखते हैं, तो आपका उठा पैर काँपता है या जमीन पर रखा हुआ या दोनों?"

"जब मैं एक पैर उठाकर उसे आगे रखता हूँ तो जहाँ मैं सोचता हूँ वहाँ नहीं रखा जाता। मेरा नियंत्रण कम हो गया है पैरों पर।"

यह एक चौंकाने वाली बात थी। ऐसा अक्सर बहुत ऊँचाइयों पर होता है, जब ऑक्सीजन की कमी के कारण आपका दिमाग़ काम करना कम कर देता है, तो आप पैर रखते कहीं हैं, वे पड़ते कहीं हैं। कोठारी जी को यह परेशानी यहाँ 2500 मीटर की रेंज में हो रही है, तो आगे ऊँचाई बढ़ने पर यह परेशानी और बढ़ेगी ही। इस मामले में मुझे भी ज़िद नहीं करनी चाहिए।

"फिर तो वापस लौटना ही उत्तम है।"

अब कोठारी जी लुकला जाएँगे। वहाँ से काठमांडू की फ़्लाइट पकड़े, फिर बस से या दूसरी फ़्लाइट से वापस फाफलू आएँगे, फिर किसी ट्रैक्टर में बैठकर ताकशिंदो मोनेस्ट्री जाएँगे और बाइक उठाकर ले जाएँगे।

थोड़ा आगे बढ़े तो लगभग 100 मीटर आगे लुकला जाने वाला रास्ता अलग हो गया।

एक पत्थर पर बारीक अक्षरों में लिखा था- लुकला दाहिने और नामचे बाएँ। हमें लुकला नहीं जाना था। थोड़ी देर की बात है। कोठारी जी पर इतना भरोसा तो था ही कि वे अकेले लुकला पहुँच जाएँगे। यहाँ एक दुकान भी थी। कोल्ड ड्रिंक की तीन बोतलें निपटाई, कुछ फ़ोटो खींचे और आपस में अलविदा कह दिया।

यह काफ़ी निराशाजनक समय था। हमारे भी मन में आया कि उनके साथ ही लौट चलते हैं। दुनिया में और भी अनदेखे स्थान हैं। क्या हासिल होगा एवरेस्ट बेस कैंप जाकर? लेकिन इस तरह का कोई भी त्वरित निर्णय लेने से पहले थोड़ा रुक जाना चाहिए। हम तात्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर निर्णय लेते हैं और बाद में पछताते हैं। रुक जाने से, आराम करने से, शांत हो जाने से हमारे सोचने का दायरा बढ़ जाता है और हम तात्कालिक परिस्थितियों के प्रभाव में नहीं आते। वापस हमें भी लौटना था, लेकिन आज हम जल्दी रुककर इस निर्णय के बारे में और ज़्यादा पुनर्विचार करना चाहते थे।

इसके बाद रास्ता लगभग समतल-सा ही रहता है। बीच में कुछ सस्पेंशन पुल पड़ते हैं। चहल-पहल भी ख़त्म-सी हो जाती है। अब खच्चरों का आवागमन भी लगभग बंद हो जाता है। शायद इसका कारण यह हो कि लुकला से आगे के लोग अपना सामान फ़्लाइट से मँगाते हों। नतीजन रास्ते में खच्चर- जनित कीचड़ नहीं मिलता और न ही दुर्गंध।

लगभग एक घंटे चलने के बाद एक सुनसान गाँव मिला। इस ट्रैक पर सुनसान गाँव नगण्य हैं। पचास से भी ज़्यादा घर थे और लगभग सभी बंद पड़े थे। आश्चर्य इस बात का था कि इनमें कोई भी होटल नहीं था, अन्यथा इधर प्रत्येक गाँव में प्रत्येक घर एक होटल भी होता है।

यहाँ से आगे निकलते ही चौंरीखर्क है। यहाँ ख़ूब होटल हैं। दाहिने ऊपर लुकला है। लुकला से नामचे जाने वाला रास्ता दिखाई भी देता है और वह हमारे इस रास्ते में छेपलुंग में आकर मिलता है। चौंरीखर्क से अगला गाँव छेपलुंग ही है। लेकिन ये दोनों इतने घने बसे हुए हैं कि पता भी नहीं चलता कि कब हम चौंरीखर्क से निकलकर छेपलुंग में प्रवेश कर गए।

बौद्ध आबादी होने के कारण जगह-जगह स्तूप बने हैं, धर्मचक्र भी हैं, लोग इन्हें अपने दाहिने रखकर परिक्रमा भी करते हैं, इन्हें घुमाते भी हैं; लेकिन व्यावसायिकता इतनी अधिक है कि धर्म-कर्म दिखाई नहीं देता। लद्दाख जैसी 'फ़ीलिंग' नहीं आती। अन्यथा मेरा मन 'जुले-जुले' कहने का हो रहा था।

एक बजे छेपलुंग पहुँच गए। यहाँ सड़कें तो हैं नहीं, पगडंडियाँ ही हैं। लुकला से आने वाली पगडंडी भी यहाँ मिल जाती हैं। बड़े-बड़े आलीशान होटल हैं। अब भीड़-भाड़ मिलने लगी। एवरेस्ट बेस कैंप का ट्रैक असल में यहीं से शुरू होता है। ज़्यादातर ट्रैकर्स और पर्वतारोही काठमांडू से लुकला फ़्लाइट से आते हैं और यहाँ से ट्रैकिंग आरंभ करते हैं। लुकला से छेपलुंग तक उतराई है। इसके बाद बड़ी दूर तक लगभग समतल-सा ही रास्ता रहता है।

छेपलुंग 2700 मीटर पर है। हम आज जल्दी रुकना चाहते थे। हमारे सभी कपड़े गंदे हो गए थे। कल हम नामचे बाज़ार पहुँच जाएँगे, जो काफ़ी ऊपर है। पानी और मौसम वहाँ

ज़्यादा ठंडा ही मिलेगा। फिर हम थके भी हुए थे। हमें शारीरिक और मानसिक विश्राम की आवश्यकता महसूस हो रही थी। आज हमें ट्रैकिंग करते हुए चौथा दिन था। लेकिन चूँकि ज़्यादातर लोग लुकला से ट्रैक आरंभ करते हैं और हम आज लुकला के पास थे, तो देखा जाए तो यह ट्रैकिंग का हमारा पहला ही दिन था। अभी भी बेस कैंप पहुँचने में कई दिन लगेंगे। ऊर्जा समाप्त होने लगी थी और हमें ऊर्जित होने के लिए कम-से-कम एक दिन पूर्ण विश्राम की आवश्यकता थी। ऊर्जा समाप्त होने से 'मोटीवेशन' भी समाप्त होने लगता है और वापस लौटने का मन करने लगता है। कभी लगता कि कोठारी जी के पास ही चलते हैं। कल सभी साथ ही वापस उड़ जाएँगे। इन चार-पाँच दिनों में हमारे इतने पैसे ख़र्च हो चुके थे कि यदि हम काठमांडू से लुकला फ़्लाइट से आते, तो सस्ता पड़ता।

छेपलुंग से लगभग पाँच किलोमीटर आगे फाकडिंग है। रास्ता लगभग समतल ही था, तो तय किया कि आज फाकडिंग रुकेंगे। छेपलुंग में पंद्रह मिनट रुके, फिर आगे चल दिए।

एक जगह दो स्टिकर लगे देखे- 'एवरेस्ट एक्सपेडीशन, इंडियन एन.सी.सी' और दूसरा था 'इंडियन आर्मी, एवरेस्ट एंड ल्होत्से 2016'। यानी भारतीय एन.सी.सी और भारतीय सेना के दल एवरेस्ट की चोटी पर चढ़ने के लिए आए थे। कब आए थे, पता नहीं। जब मैं कहीं एन.सी.सी के कारनामों के बारे में पढ़ता हूँ, तो ग़ुस्सा-सा आने लगता है। मैं भी इंजीनियरिंग की पढ़ाई के दौरान एन.सी.सी कैडेट था। बटालियन में हमारे कॉलेज की अच्छी रेपूटेशन भी थी। लेकिन बारह-बारह दिनों के दो अनिवार्य कैंपों के अलावा कोई गतिविधि नहीं हुई। न कोई सामाजिक कार्य और न कोई साहसिक कार्य। जब कभी एन.सी.सी. जॉइन की थी, तो यही सोचा था कि इस बहाने एवरेस्ट भले ही न चढ़ पाऊँ, लेकिन इसके जैसा ही कोई बड़ा काम अवश्य कर लूँगा। कम-से-कम देशाटन तो होगा ही। लेकिन कहीं नहीं जाना हुआ। जो दो कैंप भी हुए वे भी मेरठ जिले में ही निपट गए-एक हस्तिनापुर में और दूसरा मवाना में।

वापस नेपाल चलते हैं। इस ट्रैक पर बहुत-से फेरी वाले भी चलते हैं। इनके पास बाँस के बने बड़े-बड़े टोकरे होते हैं, जिन्हें ये कंधे और सिर के सहारे कमर पर लादकर चलते हैं। इन टोकरों में रोजमर्रा की चीज़ें होती हैं। यानी ये चलती-फिरती दुकानें होती हैं। ऐसी ही एक 'दुकान' से हमने केले लिए- 500 रुपये के बारह केले। मोलभाव भी किया, लेकिन वह नहीं माना। "गाटा ओ जाएगा" की ही रट लगाये रहा। केले थे तो छोटे ही, लेकिन इन्हें खाकर हमें उस दिन लंच नहीं करना पड़ा। लंच में यदि हम एक-एक प्लेट दाल-भात भी लेते, तो इनसे महँगे ही पड़ते। दूसरे, हमारा थोड़ा-सा ज़ायक़ा भी बदला।

छेपलुंग के बाद से होटलों की भयंकर भरमार है। हमें ऐसे होटल की तलाश थी, जिसमें कुछ खुली जगह भी हो, ताकि आराम से कपड़े भी धो सकें और उन्हें सुखाने के लिए डाल भी सकें। फाकडिंग पहुँचने का इरादा तो अवश्य था, लेकिन शरीर अब साथ नहीं दे रहा था। फिर भी चलते रहे, चलते रहे और आख़िरकार फाकडिंग से एक-डेढ़ किलोमीटर पहले छू-थावा में 'पीसफुल लॉज' में रुक गए। एक वृद्धा और उसकी बेटी ही यहाँ थे। सभी कमरे ख़ाली थे। ऐसा लगता था कि अरसे से यहाँ कोई नहीं रुका। और कोई रुकेगा भी क्यों? लुकला से जो ट्रैकर्स आते हैं, वे या तो पहले ही दिन नामचे बाज़ार पहुँच जाते हैं या थोड़ा

आगे फाकडिंग रुकते हैं।

एक तो हमें यहाँ का सन्नाटा पसंद आया और दूसरे यहाँ कपड़े धोने और सुखाने के लिए पर्याप्त जगह थी। दीप्ति ने थके होने के बावजूद भी थोड़ी ही देर में सब कपड़े धो डाले। कपड़े धोते ही बारिश होने लगी। रात में इनके सूखने पर प्रश्नचिन्ह भी लग गया। लेकिन तसल्ली इस बात की थी कि कपड़े धुल गए।

मेन्यू कार्ड में आपको पचासों व्यंजन लिखे मिलेंगे, लेकिन वास्तव में ये दो-तीन व्यंजन ही होते हैं। इनके अलावा और कुछ नहीं। हम बिस्तर में लेटे यही चर्चा करते रहे कि हमारे भारत में खाने में कितनी विविधताएँ हैं। आपका आलू-बैंगन खाने का मन नहीं है, तो मटर-पनीर खा लो, कई तरह की दालें होती हैं, आलू के पराठे होते हैं, छोले- भठूरे होते हैं, इडली-डोसा भी सब जगह मिलते हैं..., अंत नहीं है।

मोबाइल में गाने बजने लगे तो यह गाना बड़ा अच्छा लगा। इतना अच्छा लगा कि इसे हमने बाक़ी यात्रा में 'आरती' का नाम दे दिया:

'घर आ-जा परदेसी, तेरा देस बुलाये रे।'

बारहवाँ दिन: फाकडिंग से नामचे बाज़ार

20 मई **2016**

रात बारिश हुई थी, तो मौसम काफ़ी ठंडा हो गया था। शरीर आराम माँग ही रहा था, तो जमकर नींद आई। वैसे भी हमें हमेशा नींद जमकर ही आती है। नौ बजे सोकर उठे।

एकाध ही कोई कपड़ा सूखा होगा, बाक़ी सभी अभी भी गीले थे। कुछ कपड़े हमने अपने-अपने बैगों पर बाँध लिए और बाक़ियों को एक बड़ी पन्नी में रख लिया। इस समय भी मौसम साफ़ नहीं था। यदि बैगों पर बँधे कपड़े सूख गए तो इन्हें बैगों में अंदर रख लेंगे और बाक़ी गीले कपड़ों को बैगों पर लटका लेंगे।

कल हमने अपने पावर-बैंक को चार्जिंग पर लगा दिया था। कमरे में चार्जिंग की सुविधा नहीं थी, तो होटल-मालकिन के यहाँ वह पूरी रात चार्ज होता रहा। अब जब चलने लगे, तो बिल में 150 रुपये चार्जिंग शुल्क भी लिखा हुआ था। यहाँ तक बिजली की कोई तंगी नहीं है और न ही सोलर-पैनल से चार्ज करना होता है। मैंने विरोध किया, लेकिन कोई फ़ायदा नहीं हुआ। अब आगे के लिए सबक मिल गया कि चार्जिंग के पैसों की बात पहले ही कर लिया करूँगा।

आधे घंटे में हम फाकडिंग पहुँच गए। इतने बड़े-बड़े आलीशान होटलों को देखकर आँखें फटी रह गईं। यहाँ यक़ीन नहीं होता कि यह वही नेपाल है, जहाँ के लोग भारत में चौकीदारी और मज़दूरी करने के लिए जाने जाते हैं।

'नमस्ते' शब्द काफ़ी प्रचलित है और हर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर कोई न कोई 'नमस्ते होटल' अवश्य मिल जाता है। विदेशी ख़ूब आते हैं और वे भी जमकर नमस्ते करते हैं। अच्छा भी लगता है कि संस्कृत का यह शब्द हिमालय में गोरखों की भूमि को भी पार करके शेरपाओं की भूमि पर प्रचलन में है। शेरपा बौद्ध होते हैं, इसके बावजूद भी। भारतीय हिमालय के बौद्ध बहुल भागों में 'जुले' प्रचलित है, लेकिन यहाँ 'नमस्ते'।

अभी तक रास्ता दूधकोसी के बाएँ किनारे पर था, लेकिन फाकडिंग के बाद एक लंबा सस्पेंशन पुल आया और हम दूधकोसी के दाहिने किनारे पहुँच गए। आलीशान होटलों की कहीं कोई कमी नहीं।

कुछ दूर जंगल का रास्ता है। बड़ा अच्छा लगा। अन्यथा कल चौंरीखर्क से भी पहले से लगातार आबादी और होटलों के बीच से ही चलते चले जा रहे थे। ऐसे में एहसास ही नहीं होता कि हम ट्रैकिंग कर रहे हैं।

एक जगह दीप्ति ने कहा कि चॉकलेट खाने का मन है, लेकिन बड़ी महँगी है। मैंने कहा कि जिस चीज़ का भी मन है, ले ले। यहाँ प्रत्येक चीज़ महँगी है। चॉकलेट भी अपवाद नहीं है। 300 रुपये की एक चॉकलेट मिली, डेयरीमिल्क की छोटी-सी चॉकलेट। यह भारत में 50-60 रुपये की आती है। हम अगर अपने देश में होते तो शायद इसे न लेते। लेकिन यहाँ हमारी हालत यह थी कि हममें से कोई भी कुछ नयी चीज़ लेने को कहता, तो दूसरा तुरंत अपनी सहमति दे देता। ऐसी चीज़ों को खाते समय हम एक ही बात कहते- "चलो, कम-से-कम दाल-भात से तो अच्छी ही है।"

वेंकार में रास्ते के बीच में एक स्तूप था। इसके बग़ल में ही एक बड़ी-सी चट्टान निकली हुई थी, जिस पर तिब्बती लिपि में बौद्ध मंत्र 'ॐ मणि पद्मे हुं' लिखा हुआ था। आज इस पर सफ़ेदी करके इसे और ज़्यादा चमकाने का काम चल रहा था।

वेंकार के बाद फिर से सस्पेंशन पुल है और हम पुन: दूधकोसी के बाईं ओर आ जाते हैं। पुल पार करके पंद्रह मिनट ही चले थे कि टिन का एक छोटा-सा कमरा दिखाई दिया, जिस पर लिखा था- 'टिम्स चेक पोस्ट'। यहाँ ट्रैकरों के टिम्स कार्ड की चेकिंग होती है। ज़्यादातर लोग काठमांडू से ही टिम्स कार्ड बनवाकर लाते हैं, लेकिन हमारे पास नहीं था, तो हमने एक-एक फ़ोटो और आई-डी की फ़ोटोकॉपी देकर इसे हाथोंहाथ बनवा लिया। टिम्स का अर्थ होता है- ट्रैकर्स इन्फ़ॉर्मेशन एंड मैनेजमेंट सिस्टम। हमें एक कार्ड दे दिया गया, जिस पर हमारे बारे में लिखा था और कुछ हिदायतें भी लिखी थीं। पता नहीं इसमें 'इन्फ़ॉर्मेशन' और 'मैनेजमेंट' कैसे काम करता है। एक कार्ड के 600 रुपये यानी दोनों के 1200 रुपये लगे। भारतीय मुद्रा काम आई।

एक बज चुका था और हमें भूख भी लगने लगी थी। एक होटल में गए तो कोई नहीं दिखा। दूसरे में भी कोई नहीं। काफ़ी आवाज़ें लगाने पर एक आदमी प्रकट हुआ, लेकिन उसने बताया कि अभी कुछ भी नहीं है- हमेशा तैयार रहने वाला दाल-भात भी नहीं।

थोड़ा आगे बढ़े तो एक प्रवेश-द्वार दिखा। यह प्रतीक था कि अब हम सागरमाथा नेशनल पार्क में प्रवेश करने जा रहे हैं। यहाँ भी एक काउंटर था और नेशनल पार्क में प्रवेश करने का परमिट बनता था। इसके हम दोनों के 3390 रुपये लगे। यहाँ हमने 2000 भारतीय रुपये और 190 नेपाली रुपये दिए। अभी भी हमारे पास काफ़ी भारतीय मुद्रा और नेपाली मुद्रा थी। पता नहीं कहाँ जाकर भारतीय मुद्रा को न स्वीकारा जाए। तो जब तक इसे स्वीकारा जा रहा है, तो इसे ही समाप्त किया जाए।

टिम्स कार्ड और नेशनल पार्क का परमिट बन जाने के बाद अब किसी भी तरह के परमिट की आवश्यकता नहीं थी। यदि हवाई-जहाज़ से लुकला जाने की मजबूरी न हो, तो काठमांडू जाना भी आवश्यक नहीं है।

यहाँ एक बड़ा-सा बोर्ड लगा था, जिस पर जनवरी 1998 से अब तक आने वाले ट्रैकरों की संख्या मासिक क्रम में लिखी थी। इससे पता चला कि जनवरी-फरवरी में भी ठीक-ठाक संख्या में ट्रैकर्स यहाँ आते हैं, मार्च-अप्रैल में ख़ूब भीड़ होती है, मई में कम होने लगते हैं, जून-जुलाई-अगस्त में मानसून के कारण बहुत कम, सितंबर में संख्या बढ़ने लगती है, अक्टूबर-नवंबर में बेतहाशा ट्रैकर्स आते हैं, दिसंबर में कम हो जाते हैं। इसे देखना बड़ा मज़ेदार था। 25 अप्रैल 2015 को नेपाल में जो महाविनाशकारी भूकंप आया था, उससे ट्रैकरों की संख्या में बहुत गिरावट आई। हालाँकि अब जाकर फिर से रौनक़ होने लगी है।

सागरमाथा नेशनल पार्क एक 'वर्ल्ड हेरीटेज साइट' भी है।

यहाँ से दूधकोसी के उस पार बड़ा शानदार झरना दिखाई देता है। थोड़ी-सी उतराई है और हम जोरसले पहुँच जाते हैं। अब हम नेशनल पार्क के अंदर थे। पता नहीं आगे होटल हों या न हों, इसलिए अब जहाँ भी जो भी खाने को मिले, खा लेना है। आगे नामचे बाज़ार की चढ़ाई आरंभ हो जाएगी, भूखे होंगे तो बड़ी दिक़्क़त आएगी। तो जोरसले में पहली ही एक दुकान में रुक गए। टी.वी. पर हिंदी चैनल लगा हुआ था और सभी लोग बड़े चाव से इसे देख रहे थे। हमने दाल-भात की फ़रमाईश की, तो उन्होंने मना कर दिया। इससे अगले होटल में भी हिंदी चैनल विराजमान था, स्टार गोल्ड। जॉनी लीवर की कोई फ़िल्म चल रही थी, जो निःसंदेह हिंदी में थी और दुकान की मालकिन बड़ी तल्लीन होकर इसे देख रही थी। हमने सोचा कि यह हिंदी समझती होगी, तो हिंदी में दाल-भात का ऑर्डर दिया। पता चला कि यह महिला बिल्कुल भी हिंदी नहीं समझती है। और अँग्रेज़ी भी नहीं। हम कुछ पूछते, तो वह बस हँस देती। दीप्ति को अंदर रसोई में जाना पड़ा, उसे यह समझाने कि दाल-भात में 'वेज' नहीं डालना है। हमने नेपाली लहज़े में जोड़-तोड़ करके पूछा कि हिंदी नहीं आती, फिर भी कैसे हिंदी चैनल देख लेती हो। वह केवल हँस दी। ज़ाहिर था कि हमारी बात उसकी समझ में नहीं आई।

बाद में फुरबा तेनजिंग से इस बारे में बात हुई तो उसने भी स्वीकारा कि ख़ासकर महिलाएँ हिंदी नहीं समझतीं, लेकिन घरों में हिंदी चैनल महिलाएँ ही चलाती हैं। उन्हें फ़िल्म और सीरियल बड़े पसंद हैं।

वैसे यहाँ चीनी चैनल भी आते होंगे, लेकिन हमने कहीं भी चीनी चैनल नहीं देखे। बेटा चीन, नेपाल में अभी तुम बहुत पीछे हो। नेपाल के माओवादी भले ही तुम्हें सर्वेसर्वा मानते

हों, लेकिन आम जनता का दिल तो भारत में ही बसा है। यहाँ जमकर भारतीय चैनल चलते हैं और तुम कभी भी नहीं समझ सकोगे कि यह नेपाली चैनल है या भारतीय। नेपाली महिलाएँ जिस 'डायलॉग' पर ठहाका लगाती हैं, तुम कभी नहीं जान सकोगे कि वो 'डायलॉग' भारतीय था।

यहाँ भी दूधकोसी पर लंबा सस्पेंशन पुल था। इसे पार करके दाहिनी तरफ़ आ जाते हैं और थोड़ी दूर बाद फिर से बाईं तरफ़ हो जाते हैं। अब पूरी तरह जंगल का रास्ता था, कोई होटल नहीं था। अब महसूस हुआ कि हम हिमालय में ट्रैकिंग कर रहे हैं। ट्रैकिंग में जंगल और निर्जनता अहम बात होती है। यदि ये दोनों चीज़ें नहीं मिलेंगी, तो समझो कि ट्रैक अधूरा रह गया।

ऊपर आसमान में ख़ूब बादल थे। एक निश्चित ऊँचाई के बाद कुछ भी नहीं दिख रहा था। यदि मौसम साफ़ होता, तो क्या पता हमें सामने ऊपर बसा नामचे बाज़ार दिख जाता। अन्यथा दूधकोसी घाटी में ऊपर बर्फ़ीली चोटियाँ तो दिखतीं ही। अब कुछ-कुछ समझ में आया कि मानसून न होने के बावजूद भी मई में यहाँ ज़्यादा ट्रैकर्स क्यों नहीं आते। ट्रैकिंग का एक उद्देश्य बर्फ़ीले पहाड़ों का आनंद लेना भी होता है, लेकिन यदि बादल-ही-बादल रहेंगे तो हम इस आनंद से वंचित रह जाएँगे। आज लुकला से न कोई हवाई-जहाज़ उड़ा और न ही हेलीकॉप्टर।

यहाँ पहाड़ बिल्कुल सीधे खड़े हैं और दूधकोसी एक संकरी घाटी से होकर बहती है। यहीं भोटेकोसी भी आकर मिल जाती है। सगंम के पास दूधकोसी पर एक के ऊपर एक यानी दो सस्पेंशन पुल बने थे। संकरी घाटी में नीचे खड़े होकर इन्हें देखना बड़ा रोमांचक अनुभव था। पहले तो हमने सोचा कि नीचे वाले पुल से उधर जाकर कुछ ऊँचाई चढ़कर फिर ऊपर वाले पुल से इधर आ जाते होंगे, लेकिन फिर ध्यान पड़ा कि नामचे बाज़ार तो उस तरफ़ है। यदि ऊपर वाले पुल से इधर आ भी गए, तो नामचे जाने के लिए फिर उधर ही जाना पड़ेगा। इन पुलों के नज़दीक गए तो पता चला कि नीचे वाला पुल क्षतिग्रस्त है और अब केवल ऊपर वाले से ही आवागमन होता है। यानी पहले कभी नीचे वाले से दूधकोसी पार की जाती होगी, लेकिन अब केवल ऊपर वाले से ही उधर जा सकते हैं। यहाँ हम लगभग 2900 मीटर की ऊँचाई पर थे। अब नामचे बाज़ार की ज़ोरदार चढ़ाई शुरू होती है। यह 3400 मीटर पर है।

एवरेस्ट बेस कैंप ट्रैक मुश्किल ट्रैक नहीं है। यह लंबा ज़रूर है, लेकिन मुश्किल नहीं। ज़ोरदार चढ़ाई तो शायद ही कहीं हो। लेकिन दूधकोसी- भोटेकोसी संगम से नामचे बाज़ार की यह चढ़ाई वास्तव में ज़ोरदार है। लेकिन रास्ता काफ़ी चौड़ा है और बड़ी संख्या में लोग आते-जाते मिलते हैं।

इससे पहले मेरे मन में एक बात और भी आती थी। अभी हम दूधकोसी से नामचे बाज़ार की चढ़ाई चढ़ेंगे और कल तेंगबोचे जाते समय फिर दूधकोसी तक नीचे उतरेंगे। तो क्या दूधकोसी के किनारे-किनारे ऐसा भी रास्ता है, जो सीधा तेंगबोचे पहुँचा दे और हमें नामचे की चढ़ाई न चढ़नी पड़े? यहाँ आकर मैंने ऐसे संभावित रास्ते को भी खोजने की कोशिश की, लेकिन कोई नहीं मिला। होना चाहिए था ऐसा एक रास्ता। काफ़ी दूरी भी बच जाती

और हमें चढ़ाई भी कम चढ़नी पड़ती।

सुना है कि इस पुल से एवरेस्ट दिखती है। हमने उत्तर की ओर मुँह भी किया, लेकिन ख़राब मौसम में एवरेस्ट कैसे दिखती?

नामचे बाज़ार की यह चढ़ाई वाक़ई ज़ोरदार है। लेकिन रास्ता इतना चौड़ा है कि पाँच-छह आदमी बराबर-बराबर में चल सकते हैं। यह वास्तव में एक 'रिज' है जिसके एक तरफ़ दूधकोसी और दूसरी तरफ़ भोटेकोसी है। हालाँकि पुल पार करने के बाद से दूधकोसी तो नहीं दिखाई देती, लेकिन भोटेकोसी लगातार दिखती रहती है। इसका जंगल बहुत घना है और सिहरन पैदा करता है। 'रिज' के कारण इस हिस्से में पानी की भी दिक़्क़त रहती है।

यह बहुत थकान-भरा था। हमारे मोबाइल में जी.पी.एस. चालू था और हमें पता था कि कितनी ऊँचाई पर चल रहे हैं। नामचे 3400 मीटर पर है, तो इतनी ऊँचाई तक तो आज चढ़ना ही है। यदि जी.पी.एस. न होता, तो हम थोड़ा-सा चलते ही मान लेते कि बहुत चल दिए और जब नामचे नहीं आता, तो निराशा होती। हमारा लक्ष्य क्षैतिज नहीं, बल्कि ऊर्ध्व था।

3300 मीटर तक तो हम दोनों ही बिल्कुल ऊर्जाहीन हो चुके थे। छ: से ऊपर का समय हो गया था और सूरज कोंगड़े के उस तरफ़ था। यहाँ धूप नहीं थी, लेकिन पर्याप्त उजाला था।

पुलिस की एक चौकी मिली। बंद थी। अन्यथा यहाँ हमारे परमिट चेक किए जाते और नाम आदि कंप्यूटर में दर्ज होते। पानी था, तो जी-भरकर पीया। हालाँकि अभी भी नामचे नहीं दिखा था, लेकिन नामचे के नज़दीक पहुँचने का एहसास तो होने ही लगा था।

आख़िरकार सात बजे हम नामचे बाज़ार पहुँचे। हिमालय में इतने दूरस्थ स्थान पर जहाँ सड़कें तक नहीं हैं, इतने घने बसे शहर और आलीशान होटलों की कल्पना तक नहीं की जा सकती। सभी होटल एक से बढ़कर एक लगते और पाँच सितारा से कम नहीं लगते। ठहरने के लिए इनका कोई विकल्प नहीं है। आपको इनमें से ही किसी में रुकना पड़ेगा। हम 'फ़ैमिली लॉज' में रुके।

काफ़ी ठंड थी। अंदर डाइनिंग रूम में हीटर चालू थे, तो बड़ा अच्छा लगा। दारू-बीयर की बोतलें, कोल्ड-ड्रिंक और पानी की बोतलें बड़े करीने से रखी हुई थीं। इसके मालिक बड़े मिलनसार और हँसमुख थे। 200 रुपये का कमरा था। कमरा तो वैसा ही था, जैसे अभी तक मिलते आए थे। दो बिस्तर केवल, और कुछ नहीं। लेकिन यहाँ दीवारें अच्छी 'प्लाई' की बनी थीं, शानदार पर्दे लगे थे और अच्छे गद्दे थे। कमरे में एक पर्चा चिपका था जिस पर लिखा था कि यहाँ बाहर का खाना खाना मना है। खाना यहीं खाना पड़ेगा। यदि यहाँ खाना न खाया तो कमरा 1000 रुपये का होगा।

डाइनिंग रूम में बैटरी चार्जिंग के रेट लिखे थे- डिजिटल कैमरा फुल चार्ज 300 रुपये, लैपटॉप 400 रुपये, मोबाइल 300 रुपये। हमने 'चेक-इन' करने से पहले ही तय कर लिया था कि कैमरा-मोबाइल-पावर बैंक सब चार्ज करेंगे और वो भी फ्री में। मालकिन ने 'धीरे बोलो' कहकर हामी भर ली। शायद उन्हें डर था कि कहीं सामने बैठे दूसरे ग्राहक भी फ़्री में चार्जिंग न माँगने लगें।

आज हमने 'चीज़ पिज़्ज़ा' लिए। यह 550 रुपये का था, यानी दाल-भात के लगभग बराबर। कहाँ दाल-भात और कहाँ यह 'चीज पिज़्ज़ा'! वाक़ई आनंद आ गया।

बिस्तर पर लेटे-लेटे हम आज के दिन के बारे में सोचते रहे। आज हम इस ट्रैक पर पहली बार 3000 मीटर से ऊपर आए हैं। हालाँकि कुछ दिन पहले ताकशिंदो-ला से 3000 मीटर से ट्रैकिंग आरंभ की थी, लेकिन आज तक इससे नीचे ही रहे। 3000 मीटर का एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी पड़ता है- अब हम 'हाई एल्टीट्यूड' में थे। नामचे बाज़ार में जब हम प्रवेश कर रहे थे, तो जगह-जगह इसके बारे में चेतावनियाँ और इससे बचने के तरीक़े लिखे थे। हालाँकि मैंने पहले भी काफ़ी ऊँचाइयों पर ट्रैकिंग कर रखी है, लेकिन जब आपके चारों तरफ़ 'हाई एल्टीट्यूड' की चेतावनियाँ लिखी हों, तो इनका भी कुछ तो मानसिक असर पड़ता ही है। अब कहीं-न-कहीं लग भी रहा था कि कल जब हम नामचे से आगे बढ़ेंगे, तो पता नहीं क्या होगा? क्या हमें भी बाक़ी ज़्यादातर ट्रैकरों की तरह एक दिन नामचे में बिताना चाहिए?

नहीं, हम कल आगे बढ़ेंगे।

बाहर बारिश होने लगी, तो मौसम में और भी ठंडक बढ़ गई। फ़्री वाई-फ़ाई तो लगभग हर होटल में मिलता है, लेकिन चलता कम ही है। इससे तेज़ तो हमारा एनसेल का इंटरनेट चल रहा था। कोठारी जी से बात हुई। वे अभी भी लुकला में ही थे। ख़राब मौसम के कारण आज एक भी उड़ान काठमांडू नहीं जा सकी। उन्होंने कल आधे दिन आराम किया और आज पूरे दिन। अब उन्हें पर्याप्त आराम मिल चुका था। मैंने उन्हें उत्साहित किया कि इधर नामचे चले आओ, हम आपकी प्रतीक्षा कर लेंगे; लेकिन उन्होंने मना कर दिया। "देख लो, अभी भी मौक़ा है, हो जाएगा आराम से।" उन्होंने बिल्कुल ही मना कर दिया।

हम भी सोचने लगे कि कोठारी जी ख़ुशकिस्मत रहे कि निकल गए यहाँ से। हमारे मन में भी बहुत बार आता कि वापस मुड़ लें। क्या मिलेगा बेस कैंप पहुँचकर? हिमालयी ट्रैकिंग निर्जनता के लिए जानी जाती है। लेकिन यहाँ भीड़ और महँगाई देखकर दम घुट रहा था। हम न नेपालियों से बात कर पा रहे थे और न ही किसी विदेशी से। मुझे अँग्रेज़ी उतनी अच्छी नहीं आती और आती भी है तो केवल भारतीय लहजे वाली अँग्रेज़ी ही आती है। यूरोपियन या अमरीकन लहज़ा सिर के ऊपर से गुज़र जाता है। कोई 'गुड मोर्निंग' भी कहता है तो 'गुमोईंग' सुनायी देता है, जिसे समझने में बड़ी मेहनत लगती है।

जब हम डाइनिंग रूम में खाना खा रहे थे और हीटर के पास बैठकर ठंड दूर भगा रहे थे, तो उस समय वहाँ दो विदेशी भी थे। वे होटल मालिक से कुछ जानकारी ले रहे थे। चारों ओर शांति थी, तो उनकी एक-दो बातें हमारी भी समझ में आ गईं। फिर तो हम भी उनके पास जा बैठे। उन्हें केवल गोक्यो ही जाना था, बेस कैंप नहीं जाना था। लेकिन जब होटल मालिक को पता चला कि उनके पास एक सप्ताह से भी ज़्यादा का समय है, तो उसने उन्हें गोक्यो से बेस कैंप जाने के लिए भी प्रोत्साहित किया। उन्हें समझाया कि पहले दिन आप आराम से डोले जा सकते हो, फिर यहाँ, फिर वहाँ और आख़िर में चो-ला दर्रा पार करके एवरेस्ट क्षेत्र में प्रवेश कर सकते हो।

हमें भी इसी मार्ग पर चलना था, लेकिन विपरीत दिशा में। पहले बेस कैंप जाना था।

चो-ला दर्रे को लेकर मेरे मन में काफ़ी उथल-पुथल मची थी। चो-ला 5300 मीटर से भी ऊँचा है और मई में इस ऊँचाई पर काफ़ी बर्फ़ होती है। फिर आजकल लगातार मौसम ख़राब चल रहा था, तो वहाँ ताज़ी बर्फ़ भी गिरेगी, जो इसे और ज़्यादा कठिन बना देगी। हमने भी इस बारे में होटल मालिक से बातचीत की। उसने कहा कि कठिन तो है, लेकिन हो जाएगा।

फिर हमने आपस में विमर्श किया कि यदि हम पहले बेस कैंप पहुँच गए, तो फिर हमारा लक्ष्य पूरा हो जाएगा और गोक्यो बिल्कुल भी नहीं जाएँगे। और वापसी की राह पकड़ लेंगे। वैसे भी बढ़ते ख़र्चे और थकान के कारण हम रोज़ वापस मुड़ने की सोचते हैं।

उधर हिमालय में 4000 मीटर से ऊपर वाली सभी झीलें बेहद ख़ूबसूरत होती हैं। मुझे ऐसी झीलें बहुत आकर्षित करती हैं। फिर गोक्यो में तो पाँच झीलें हैं। मैं गोक्यो भी नहीं छोड़ना चाहता था और साथ ही यह भी नहीं चाहता था कि गोक्यो देखने हमें फिर कभी इधर आना पड़े। समय काफ़ी था हमारे पास, हम गोक्यो तक भी हर हाल में जाना चाहते थे।

अब पहली बार तय किया कि पहले बेस कैंप न जाकर गोक्यो ही चलते हैं। नामचे बाज़ार से पहले गोक्यो जाना और फिर बेस कैंप जाना 'क्लॉकवाइज़' कहा जाता है। इसी तरह पहले बेस कैंप जाकर फिर गोक्यो जाना 'एंटीक्लॉकवाइज़'। आख़िर में होटल मालिक से पूछा- "चो-ला को 'क्लॉकवाइज़' पार करना चाहिए या 'एंटीक्लॉकवाइज़'?"

बोला- "किसी भी दिशा में करो, एक-सा ही पड़ता है।"

मैंने पूछा- "यदि आपको जाना हो, तो किधर से जाएँगे?"

बोला- "क्लॉकवाइज़। यानी पहले गोक्यो जाएँगे, फिर बेस कैंप।"

यह उत्तर हमारे अनुकूल था। वह क्यों इसे 'क्लॉकवाइज़' करना चाहेगा, यह तो पता नहीं चल सका। लेकिन शायद बौद्ध होने के कारण वह 'क्लॉकवाइज़' करना चाहता होगा। लेकिन बाद में वहाँ जाकर पता चला कि चो-ला को 'क्लॉकवाइज़' ही पार करना चाहिए। जब चो-ला पार करेंगे, तब इस बारे में विस्तारपूर्वक बात करनी उचित रहेगी।

सोने से पहले 'आरती' सुनी, जिसकी इन पंक्तियों ने एहसास करा दिया कि हम यहाँ कुछ 'मिस' कर रहे हैं-

'छुक-छुक गाड़ी की सीटी आवाज़ लगाये रे।'

तेरहवाँ-दिन: नामचे बाज़ार से डोले

21 मई 2016

नामचे बाज़ार के पास एक हवाई-पट्टी भी है, लेकिन यह आजकल बंद थी। शायद हमेशा ही बंद रहती हो, कभी सुना नहीं इस हवाई-पट्टी के बारे में। लेकिन हाँ, हेलीपैड ज़रूर है। यहाँ से साफ़ मौसम में नियमित तौर पर हेलीकॉप्टर लुकला जाते हैं। आज सुबह जब हम उठे, हेलीकॉप्टरों की आवाज़ ने बता दिया कि मौसम साफ़ है। यह ख़ुशी की बात थी, लेकिन यह ख़ुशी कुछ ही देर तक रही। नौ बजे तक फिर से रोज़ जैसा मौसम हो गया।

थोड़ा ऊपर दो गाँव और हैं- खुमजुंग और खुंडे। हवाई-जहाज़ से लुकला आकर और फिर नामचे आने वाले ज़्यादातर ट्रैकर्स आबोहवा के अनुकूल होने के लिए एक दिन नामचे में रुकते हैं और अक्सर खुमजुंग और खुंडे के चक्कर लगाकर आते हैं। इन गाँवों में प्रथम एवरेस्ट विजेता एडमंड हिलेरी के बनवाए हुए स्कूल और अस्पताल हैं। हमारी उधर जाने की कोई योजना नहीं थी। हम जल्द-से-जल्द इस ट्रैक को पूरा करके वापस लौट जाना चाहते थे। इतने दिन ट्रैकिंग करने के बाद आज भी यही एहसास हो रहा था कि अभी भी हम ट्रैक के आरंभिक चरण में हैं।

हिमालय में अमूमन 3200 मीटर के ऊपर जंगल समाप्त हो जाते हैं। इसके बाद या तो छोटी-छोटी झाड़ियाँ मिलती हैं या फिर घास से ढके हुए ढलान। ऐसे ही घास के मैदानों को हमारे गढ़वाल में 'बुग्याल' कहते हैं। नामचे लगभग 3400 मीटर पर है, तो ज़ाहिर है कि यह 'जंगल-सीमा' के ऊपर है। यानी अब हमें वृक्ष-रेखा के ऊपर और हिमशिखरों के नीचे चलना है। इस यात्रा में अभी तक हम इन नज़ारों से वंचित थे। ये वे नज़ारे होते हैं, जो आपकी शारीरिक और मानसिक थकान को समाप्त कर देते हैं। सीधे शब्दों में कहें तो ट्रैकिंग अब शुरू हुई है।

450 रुपये के एक प्लेट 'पोटैटो चिप्स' लिए, साथ में कॉफ़ी। नामचे को नेपाल का सबसे महँगा शहर माना जाता है, लेकिन यह पूरा इलाक़ा ही अत्यधिक महँगा है। मुख्य ख़र्च खाने का ही है। और गुणवत्ता ख़राब। यहाँ इस होटल में जो भी खाया, उच्च गुणवत्ता का था।

पैसे गिनने ज़रूरी थे। गिने तो पाया कि हमारे पास केवल पाँच-छह दिनों लायक़ ही पैसे थे। नामचे वह आख़िरी स्थान है, जहाँ ए.टी.एम. है। यहीं बग़ल में ए.टी.एम. था। मैं अपने भारतीय यूनियन बैंक के कार्ड से नेपाली बीस हज़ार रुपये निकाल लाया। बाद में कुछ मित्रों ने जिज्ञासावश पूछा भी कि ये बीस हज़ार रुपये भारतीय मुद्रा वाले मिले या नेपाली मुद्रा वाले। अब भइया, ज़ाहिर-सी बात है कि कोई बैंक अपने ए.टी.एम. में विदेशी मुद्रा तो रखेगा नहीं। नेपाली मुद्रा ही रखेगा। पैसे वर्तमान करेंसी रेट के अनुसार कट जाएँगे और बैंक भी आपस में कुछ लेन-देन करते हैं। ये बीस हज़ार नेपाली निकालने पर एक हज़ार नेपाली मुझे अपने खाते से अतिरिक्त कटवाने पड़े।

साढ़े नौ बजे नामचे बाज़ार से चल दिए। रात जितनी बारिश हुई थी, अब उतनी ही धूप निकली थी। दीप्ति ने कल के सारे गीले कपड़े इधर-उधर टाँग दिए और ये सब कुछ ही देर में सूख गए। मुझे नहाने की तलब लगी थी, लेकिन गर्म पानी बहुत महँगा था। ठंडे पानी से सिर-मुँह धोकर काम चलाना पड़ा।

अगर आपको पैसों की कुछ भी चिंता नहीं है, तो नामचे आपके लिए बेहद शानदार स्थान है। आलीशान होटल हैं, पूर्णरूप से घुमक्कड़ी वाला माहौल है, दुनियाभर से यात्री आते हैं और भीड़-भड़ाका होने के बावजूद भी यह खलता नहीं है। इस बात का एहसास हमें तब हुआ, जब हम सारा बिल भर चुके। जब हमें यहाँ और ख़र्चा करने की आवश्यकता नहीं रही, तब हमें नामचे की ख़ूबसूरती दिखनी शुरू हुई।

होटलों के बीच से ऊपर चढ़ता रास्ता था। थोड़ी ही देर में हम 3500 मीटर तक पहुँच गए। यहाँ से पूरा नामचे बाज़ार दिखाई देता है। होटलों से भयंकर तरीक़े से भरा हुआ। पता नहीं यहाँ सभी होटल ही हैं, या किसी का कोई निजी घर भी है। लगभग साठ साल पहले जब हिलेरी साहब और तेनजिंग साहब ने एवरेस्ट विजय की थी, क्या तब भी नामचे ऐसा ही रहा होगा? ज़ाहिर है, नहीं। दो-चार घर रहे होंगे, या फिर दस-पंद्रह। इससे ज़्यादा नहीं।

यहीं से खुमजुंग और खुंडे के लिए रास्ता जाता है। खुमजुंग-खुंडे से भी उधर नीचे उतरा जा सकता है, लेकिन हमने मुख्य रास्ते से ही चलना उचित समझा। क्यों पहले ऊपर चढ़ें

और फिर उधर नीचे उतरें? वैसे भी हमें अभी बहुत ऊपर चढ़ना है। खुमजुंग-खुंडे ज़्यादा आकर्षक नहीं दिखाई पड़े। कुछ ट्रैकर्स ख़ाली हाथ उधर ज़रूर जा रहे थे, वे निश्चय ही 'एक्लीमेटाइज़ेशन' करने जा रहे हैं।

अब तो रास्ता लगभग समतल ही रहता है। लेकिन दूधकोसी घाटी में मौसम ख़राब होने लगा था, ऊपर की बर्फ़ीली चोटियाँ नहीं दिख रही थीं। नामचे से बेस कैंप जाने वाले हेलीकॉप्टर भी नहीं उड़ रहे थे। मौसम साफ़ होता, तो क्या पता यहाँ से एवरेस्ट भी दिखती।

एक जगह से नीचे देखने पर दूधकोसी पर बने दोहरे सस्पेंशन पुल दिखाई दिए। यानी हमारा अंदाज़ा ठीक था। आपको यदि यहाँ से बेस कैंप जाना है, तो दूधकोसी पार करनी पड़ेगी। इसके लिए नीचे उतरना पड़ेगा, फिर उस तरफ़ ऊपर चढ़ना पड़ेगा। यदि उस दोहरे पुल से ही कोई सीधी पगडंडी होती, तो आप काफ़ी चढ़ाई से बच जाते।

रास्ता बेहद शानदार बना था। इसका श्रेय जाता है उस बुज़ुर्ग दंपत्ति को, जो इसके लिए पैसे इकट्ठे करते हैं। एक जगह रास्ते में वे बैठे मिले। उनके पास एक डिब्बा रखा था, जिस पर लिखा था- डोनेशन बॉक्स। इस पैसे का प्रयोग वे रास्ते को चौड़ा और अच्छा बनाने में करते हैं। नामचे से क़रीब चार-पाँच किलोमीटर तक उन्होंने इसे शानदार बनवा दिया था। उनका लक्ष्य था फ़िलहाल इसे तेंगबोचे और उम्र रही तो बेसकैंप तक बनवाने का। उनके बनवाए रास्ते और उसके बाद परंपरागत रास्ते में साफ़ फ़र्क़ मालूम पड़ता था।

एक बार नामचे से निकल जाते हैं, तो बड़ी दूर तक कोई होटल नहीं है। पानी भी नहीं है। तीन स्थानों पर बौद्ध माने अवश्य बने हैं। खच्चर अब नहीं दिखते। कभी-कभार याकों का काफिला मिल जाता है, अन्यथा 'चलती-फिरती दुकानें' ही होती हैं। ये लोग दो-दो मन तक का सामान अपनी पीठ पर लादकर धीरे-धीरे मटक-मटक चलते जाते हैं। पुरुष और महिला का कोई भेद नहीं। ऐसे ही एक शेरपा से मैंने पूछा कि यह जो सामान है, इसे कहाँ ले जा रहे हो?

बोला- "डिंगबोचे।"

"इसे ले जाने का कितना पैसा मिल जाएगा?"

बोला- "करीब पंद्रह हज़ार रुपये।"

"कहाँ से लाए हो?"

"लुकला से।"

लुकला से डिंगबोचे तक ले जाने में इसे कम-से-कम तीन दिन लगेंगे। इन तीन दिनों में इसे पंद्रह हज़ार रुपये मज़दूरी मिलेगी। दूरी बढ़ेगी तो मज़दूरी भी बढ़ेगी। ऐसे ही एक शेरपा से मैंने बेस कैंप पर पूछा था। उसे पर्वतारोहियों का सामान बेसकैंप से लुकला ले जाना था। तो जितना सामान उसके ऊपर लदा था, उसे ढोने के उसे डेढ़ लाख रुपये मिलेंगे। दो दिन में पहुँचा दे या चार दिन में। इनके लिए होटलों में खाने के दाम भी बेहद कम होते हैं।

दो घंटे तक चलते रहे। साढ़े ग्यारह बज गए। अब भूख लगने लगी थी और पानी भी

ख़त्म हो गया था। कोई होटल नहीं मिला। आख़िरकार पौने बारह बजे एकदम सुनसान में एक होटल मिला, नाम याद नहीं। ऊँचाई थी 3575 मीटर। सामने नदी के उस तरफ़ पहाड़ी पर तेंगबोचे मोनेस्ट्री दिख रही थी। लेकिन हमें पहले गोक्यो जाना था, इसलिए हम आज तेंगबोचे नहीं जाएँगे।

यहाँ कोल्ड-ड्रिंक की दो बोतलें ले लीं। पीने लगे तो बे-स्वाद लगीं। ग़ौर से देखा तो पाया कि ये छ: महीने पहले एक्सपायर हो चुकी हैं। 150 रुपये की एक बोतल थी। हमने कुछ पैसे कम करने को कहे, लेकिन उसने साफ़ मना कर दिया। ग़ुस्सा भी आया, लेकिन वह इतना हँसमुख था कि हम ज़्यादा कुछ नहीं कह पाए।

इससे थोड़ा ही आगे बढ़े तो देखा कि यहाँ पाँच-छ: होटल थे। लेकिन अब पछताए का होत, जब चिड़िया चुग गई खेत। आश्चर्यजनक रूप से यहाँ घना जंगल था, लगभग 3600 मीटर की ऊँचाई पर।

एक बुज़ुर्ग जोड़ा मिला। इन्हें बुज़ुर्ग भी कहना ग़लत होगा बल्कि भयंकर बुज़ुर्ग कहना ज़्यादा ठीक रहेगा। शायद यूरोपियन थे। दोनों हाथों में एक-एक छड़ी और बेहद धीरे-धीरे आगे बढ़ते जा रहे थे। उनके साथ एक शेरपा पॉर्टर था, जो इनका सामान लिए था। मैंने शेरपा से ही बात की। उसने बताया, छ: दिन पहले ये लुकला से चले थे। बेस कैंप जाने का इरादा है। मैंने कहा, चरैवेति चरैवेति। पहुँच ही जाओगे।

यहीं से बेसकैंप और गोक्यो का रास्ता अलग हो जाता है और खुमजुंग से आने वाला रास्ता भी आ मिलता है। यानी पगडंडियों का चौराहा है। नीचे वाला रास्ता बेसकैंप जाता है और ऊपर वाला गोक्यो। हम ऊपर वाले पर चल दिए। जल्दी ही जंगल भी समाप्त हो गया और खुला इलाक़ा आ गया। सामने ऊपर कुछ घर जैसे दिख रहे थे। रास्ता भी वहीं जाता दिखाई दे रहा था।

यह मोंग-ला था। यानी मोग दर्रा। ऊँचाई लगभग 3950 मीटर। यहाँ से दूधकोसी के उस तरफ़ तेंगबोचे मोनेस्ट्री और दूसरी तरफ़ फुरचे गाँव काफ़ी नीचे व बेहद शानदार दिखाई देते हैं। भूख लगने लगी थी। दाल-भात नहीं थे, इसलिए चाऊमीन ले ली। नेपाली रेडियो पर हिंदी गाने बज रहे थे। लग रहा था कि भारतीय हिमालय में ही हैं हम। अब चूँकि हम बेसकैंप के रास्ते पर नहीं थे, इसलिए अब उतनी चहल-पहल नहीं थी। लगता कि हर कोई फ़ुरसत में बैठा है। होटल मालिक से आगे के रास्ते के बारे में बात की। उसने कहा, “विस्तारे-विस्तारे चले जाओ। डोले रुकना।” ‘विस्तारे-विस्तारे’ अर्थात धीरे-धीरे।

मोंग-ला से आगे ज़बरदस्त उतराई है। इतनी ज़बरदस्त कि हम चालीस मिनट में 300 मीटर नीचे उतर गए। अब हम दूधकोसी के बिस्कुल किनारे फोरसे-तेंगा गाँव में थे। यहाँ से आगे फिर से डोले की चढ़ाई आरंभ हो जाएगी। मुझे इस तरह के बे-वजह के उतार-चढ़ाव वाले रास्तों पर चलने में बड़ी कोफ़्त होती है। मोंग-ला चढ़ने की ज़रूरत ही नहीं थी। नीचे ही नीचे दूधकोसी के किनारे-किनारे रास्ता हो सकता था। यहाँ इस बारे में पूछा भी कि नीचे ही नीचे रास्ता क्यों नहीं है? बोला कि बस, है ही नहीं। ऊपर से ही है यानी मोंग-ला से। एक बात और भी है। ऊपर मोंग-ला से सीधे डोले तक भी रास्ता हो सकता था। मोंग-ला 3940 मीटर पर है, डोले 4000 मीटर पर है। इनके बीच में फोरसे-तेंगा लगभग 3600

मीटर पर है। मोंग-ला से ऊपर ही ऊपर डोले तक रास्ता हो सकता था। पूछताछ में पता चला कि रास्ता तो नहीं है, लेकिन कुछ स्थानीय लोग ऊपर ही ऊपर आना-जाना करते हैं।

दूधकोसी के उस पार कुछ ऊपर फुरचे गाँव है। इसके कुछ ही घर यहाँ से दिखाई दे रहे थे। वैसे पूरा गाँव हमें नामचे से यहाँ आते समय दिखता है। फुरचे के ऊपर 6300 मीटर से भी ऊँची ताबुचे और चोलाचे चोटियाँ हैं, दक्षिण में तेंगबोचे के ऊपर 6600 मीटर ऊँची थमसेरकू है और पश्चिम में 5700 मीटर से ऊँची खुंबी-यू-ल्हा चोटी है। शायद हमें खुंबी-यू-ल्हा तो न दिखती, लेकिन थमसेरकू और ताबूचे-चोलाचे अवश्य दिखाई देतीं, यदि मौसम साफ़ होता।

कितना अच्छा नज़ारा होता! हमारे चारों ओर बर्फ़ीली चोटियाँ हैं और हमें उनका कोई एहसास तक नहीं। वो तो अब मैं नक़्शे में देखकर बता रहा हूँ, लेकिन वास्तव में उस समय हमें दूर-दूर तक भी एहसास नहीं था कि हम बर्फ़ीली चोटियों से घिरे हैं। आप कभी बर्फ़ीली चोटियों के बीच में खड़े होना, स्वर्गीय अनुभव होता है। और हमारा दुर्भाग्य देखिए कि हम इस अनुभव से वंचित थे।

फोरसे-तेंगा में एक लड़का मिला। वह डोले का रहने वाला था। उसने आग्रह किया कि हम उनके यहाँ रुकें। नाम बताया, 'रिवर साइड लॉज'। मैंने पूछा कि कमरा कितने का है?

बोला, "फ़्री है।"

मुझे सुनाई पड़ा, थ्री हं(ड्रेड)।"

मैंने मोलभाव करना शुरू कर दिया, "सौ रुपये लगाओगे, तो हम आएँगे।"

हँसते हुए बोला, "सौ छोड़िए, एकदम फ़्री में रुकना है आपको। केवल खाने के पैसे देने हैं।"

मुझे खिन्नता का एहसास तो हुआ, लेकिन अच्छा भी लगा। खाने के रेट तो हमें पता ही हैं। पहाड़ से भी ऊँचे रेट हैं। उनके आगे तो कमरे के सौ-दो सौ रुपये कुछ भी नहीं। लेकिन कमरा फ़्री में मिल रहा है, यही बात हमारे जश्न मनाने के लिए काफ़ी थी।

यह लड़का नामचे बाज़ार से कुछ सामान लाया था। ज़्यादा तो नहीं था, लेकिन फिर भी तीस किलो से ऊपर ही था। होटल को इसके भाई-बंधु संभाल रहे होंगे। किसी पॉर्टर को सामान लाने के कई हज़ार रुपये देने से तो अच्छा है कि यह काम स्वयं ही कर लिया जाए। वह कुछ दूर तक हमारे साथ-साथ भी चला। हमने उसे आश्वासन दिया कि हम सीधे आपके यहीं पहुँचेंगे, तब वह अपनी चाल से आगे बढ़ा और आँखों से ओझल हो गया।

फिर से जंगल आरंभ हो गया। लेकिन यह भोजपत्र का जंगल था। यहाँ बौद्ध भूमि में भोजपत्र की कोई क़द्र नहीं थी या फिर अगर कहें कि क़द्र-ही-क़द्र थी, तो ज़्यादा ठीक होगा। भोजपत्र की छाल रास्ते में पड़ी रहती है, कोई नहीं उठाता। यदि यह किसी हिंदू-भूमि में होता तो छाल छोड़िए, वृक्ष भी नहीं मिलता। हमने भी ऐसे ही पड़ी हुई तकरीबन दो फ़ीट लंबी छाल तह करके अपने बैग में रख ली। इसका हमें क्या करना है, यह तो नहीं पता था। लेकिन यार-दोस्तों को और ख़ासकर रिश्तेदारनियों व पड़ोसनों को चिढ़ाने के काम अवश्य आया करेगी। आम जगहों पर भोजपत्र मिलते ही कहाँ हैं!

इसी जंगल में कस्तूरी मृग मिला। यह पगडंडी से थोड़ा हटकर था। हमारी उपस्थिति से इस पर कोई फ़र्क़ नहीं पड़ रहा था। मुझे कस्तूरी मृग की पहचान नहीं है। बाद में वापस आकर यार लोगों से पूछा, कुछ फ़ोटो देखे; तो कस्तूरी मृग ही लगा।

3800 मीटर पर यह भोजपत्र का जंगल समाप्त हुआ। हमारे इधर गंगोत्री से आगे भोजबासा है, जिसका भोजपत्र के कारण ही यह नाम पड़ा है। वह भी लगभग इतनी ही ऊँचाई पर है। लेकिन आज के ज़माने में वहाँ एकाध ही कोई भोजपत्र का वृक्ष होगा, अन्यथा बिल्कुल सफ़ाचट मैदान है। इतनी ऊँचाई पर हिमालय में कोई भी पेड़ नहीं उगता, सिवाय भोजपत्र को छोड़कर। और यह भी हर जगह नहीं होता। कुछ विलक्षण स्थानों पर ही होता है।

जंगल समाप्त होने के बाद हम 3900 मीटर से भी ऊपर पहुँच गए। शाम के छ: बज गए। लगता कि डोले अब आएगा, अब आएगा, उस मोड़ के बाद दिखेगा। लेकिन उस मोड़ पर पहुँचते तो बहुत दूर दूसरा मोड़ दिखता। फिर से वही उम्मीद जगने लगती। अब चढ़ाई समाप्त हो गई थी, रास्ता पर्याप्त चौड़ा था। लेकिन कोई भी आदमज़ात आती-जाती नहीं दिख रही थी। हवा बड़ी तेज़ चल रही थी। बारिश तो नहीं हुई, लेकिन मौसम अनवरत ख़राब ही बना हुआ था। कभी इतने बादल घिर आते कि दस मीटर आगे भी देखना मुश्किल हो जाता, तो कभी साफ़ हो जाते।

शाम का सन्नाटा कभी-कभी डरा भी देता है। जब कई मोड़ पार हो जाने के बाद भी डोले नहीं दिखा, तो अज़ीब-सा डर लगने लगा। वैसे देखा जाए तो कुछ भी डर नहीं था। लेकिन मेरी जानकारी के अनुसार डोले लगभग 4000 मीटर पर था। हम इतनी ऊँचाई तक आ चुके थे, तो डोले भी आ जाना चाहिए था। यदि हम 4000 मीटर तक न पहुँचते, तो तसल्ली रहती कि अभी इतना और चढ़ना है। लेकिन अब वह तसल्ली समाप्त हो चुकी थी। न उतार, न चढ़ाव बस समतल रास्ता। मोड़-दर-मोड़। हर मोड़ एक उम्मीद देता, लेकिन पहुँचते तो अगला मोड़ दिख जाता।

हे भगवान! डोले कब आएगा?

सात बजे जब अँधेरा हो चुका, अचानक डोले प्रकट हुआ। पहाड़ों में अक्सर गाँव-घर दूर से दिख जाया करते हैं, लेकिन डोले दूर से नहीं दिखा। जैसे ही एक मोड़ पर मुड़े, हमने स्वयं को कुछ घरों से सामने खड़े पाया। आगे बढ़े, कुछ और घर। 'रिवर साइड लॉज' कहाँ है? वो सामने थोड़ा नीचे है। गाँव पार करके थोड़ा नीचे उतरकर नदी किनारे एकदम गुमसुम-सी जगह पर यह लॉज बना है।

उस लड़के ने देखते ही पहचान लिया- "मुझे लगा आप कहीं और रुक गए।"

हमने कहा, "ऐसा कैसे हो सकता है? हम भारतीय हैं। वचन के पक्के होते हैं। एक बार कह दिया तो कह दिया। हम पूछते-पाछते और अँधेरे में गिरते-पड़ते यहाँ तक पहुँचे हैं। अब जी-जान से 'फ़्राइड पोटैटो मोमो' और 'मिल्क टी' बना दो।"

कल नामचे की चढ़ाई और आज डोले की चढ़ाई में हमें ख़ूब पसीना आया। यह पसीना सूख तो गया, लेकिन कपड़ों को नमकीन कर गया। इन्हीं कपड़ों को फिर हम पहनेंगे, तो यह नमक चुभेगा। इसलिए कपड़े धोने ज़रूरी थे। साबुन से नहीं, केवल पानी में निकाल

देंगे, तब भी काम चल जाएगा। पानी का नल होटल के बाहर खुले आसमान के नीचे लगा था। और यहाँ तापमान कितना रहा होगा? स्वयं ही अंदाज़ा लगा लीजिए। 4000 मीटर की ऊँचाई, सुबह से ख़राब मौसम, तेज़ चलती हवाएँ और रात का समय। दीप्ति ने कपड़े भिगो तो दिए, लेकिन उन्हें निकालने, निचोड़ने और टाँगने की ज़िम्मेदारी मेरी थी। और यह ज़िम्मेदारी मैंने किस तरह निभाई, बस मैं ही जानता हूँ। कभी किसी ज़माने में दीप्ति द्वारा 'डोले-पुराण' लिखा जाएगा, तभी मेरे इस 'कारनामे' का सही और प्रामाणिक वर्णन मिलेगा। वैसे इसकी संभावना नगण्य है।

यहाँ दोनों यूरोपियन भी थे, जो हमें नामचे में मिले थे और जिनकी बातचीत सुनकर ही हम बेस कैंप से पहले गोक्यो जाने को तैयार हुए थे। मुझे तो सभी यूरोपियन-अमरीकन एक जैसे लगते हैं, मैं नहीं पहचान पाया। उन्होंने ही हमें पहचाना। गर्मजोशी से ऐसे मिले, जैसे बिछड़े यार मिले हों। मैंने दीप्ति से पूछा, "ये कौन हैं? ऐसे मिल रहे हैं, जैसे पहले से जानते हों।" दीप्ति की याददाश्त अच्छी है। उसने मुझे 'रिमाइंड' कराया।

'फ़्राइड पोटैटो मोमो' को हिंदी में पकौड़ा कह सकते हैं। इन्हें बेसन में न लपेटकर मैदा में लपेटा जाता है, यही अंतर है। बाक़ी ज़्यादा अंतर नहीं। और इनके साथ सत्तर रुपये प्रति कप की चाय। आज हम वाक़ई खाने का आनंद ले रहे थे। यह एक बड़ी यात्रा थी, रोज़-रोज़ महँगाई देखकर सिर पकड़ने लगेंगे, तो आनंदित कब होंगे?

और सोते समय आरती सुनना नहीं भूले-

'छुक-छुक गाड़ी की सीटी आवाज़ लगाये रे,

घर आ-जा परदेसी, तेरा देस बुलाये रे।'

चौदहवाँ दिन: डोले से फंगा

22 मई 2016

दीप्ति की आवाज़ सुनकर मेरी आँख खुली, “नीरज, उठ। मौसम एकदम साफ़ है। बादलों का नामोनिशान तक नहीं।” यदि वह इन शब्दों के बजाय कुछ और कहती, तो मैं दूसरी करवट लेकर फिर सो जाता, लेकिन अब तुरंत उठ गया। यहाँ साफ़ मौसम बड़ा ही दुर्लभ था। हम बर्फ़ीली चोटियों के बीच में थे और ख़राब मौसम के कारण किसी भी चोटी को देख नहीं पाए थे। आज मौक़ा मिला। कपड़े पहनकर बाहर निकला, तो सुबह आठ बजे सूरज की चुभती धूप ने स्वागत किया। कहीं भी बादल नहीं थे। सबसे पहले पश्चिम दिशा में निगाह गई। लगभग 5500 मीटर ऊँची एक चोटी दिखाई पड़ी, जिस पर बर्फ़ नहीं थी। यह एक नुकीली चोटी थी, नाम पता नहीं। उत्तर में ज़्यादा दूर तक दिखाई नहीं दिया, पहाड़ का एक हिस्सा बीच में आ रहा था। और दक्षिण में थमसेरकू चोटी अपनी साथिनों के साथ पूरी भव्यता से खड़ी थी।

फटाफट चाय के साथ आलू चिप्स खाए और सवा नौ बजे यहाँ से आगे चल दिए। नाला पार करके चढ़ाई शुरू हो गई। जैसे-जैसे ऊपर चढ़ते गए, थमसेरकू की भव्यता बढ़ती गई। डोले गाँव और उसके पीछे थमसेरकू। मैंने दीप्ति से कहा, “कुछ देर बैठकर इसे देखते हैं।” यहाँ से उत्तर की तरफ़ देखा, तो बहुत दूर एक और शानदार चोटी दिखी। शायद यह चो-ओयू थी।

धूप बहुत तेज़ थी। हिमालय में या तो धूप निकलती नहीं, या फिर बहुत तेज़ निकलती है। बीच की कोई चीज़ नहीं होती। और अगर 4000 मीटर से ऊपर धूप निकलेगी, तो तेज़ ही होगी। यदि आपकी त्वचा पर कुछ देर भी धूप पड़ गई, तो जलन होने लगती है। ज़्यादा देर हो जाए तो जल भी जाती है। हमने सनक्रीम भी लगा रखी थी और तौलिये वग़ैरा से स्वयं को अच्छी तरह ढक भी रखा था। आँखों पर काला चश्मा लगा ही था।

दाहिने नीचे दूधकोसी बह रही थी। नदी के उस तरफ़ भी एक पगडंडी थी। यदि किसी वजह से हम चो-ला दर्रा पार करने में नाकाम रहे तो उसी पगडंडी से वापस आएँगे, फुरचे जाएँगे और फिर पांगबोचे, डिंगबोचे होते हुए बेसकैंप जाएँगे। न उस पगडंडी पर कोई दिखाई दे रहा था और न ही इस पर। दूर-दूर तक हम ही थे। ज़्यादा तेज़ चढ़ाई नहीं थी।

घंटे भर में ल्हाफरमा पहुँच गए। यहाँ भी एक लॉज था। इसमें इस समय कोई नहीं था। हालाँकि बाहर लिखा था, ओपन ऑल सीजन। डोले और यहाँ ल्हाफरमा के बीच में कोई भी बसावट या होटल या लॉज नहीं है। यहाँ से थमसेरकू की भव्यता देखते ही बनती है।

हल्की-हल्की चढ़ाई जारी रहती है। तेज़ धूप हमें चलने में मुश्किल पैदा कर रही थी।

कितनी अजीब बात है कि धूप न हो, तो हम धूप चाहते हैं; और अगर धूप निकल आए, तो इससे बचने की कोशिश करते हैं। अब पेड़ तो थे नहीं कि छाँव मिलती रहती। धूप लगातार हम पर पड़ रही थी और सीधे त्वचा को स्पर्श न करने के बावजूद भी खुजली होने लगी थी। प्यास बहुत लगती है और आलस भी बहुत आता है। वैसे 'हाई एल्टीट्यूड सिकनेस' का शुरुआती लक्षण भी यही है- आलस आना। अब हम 4200 मीटर से ऊपर थे, हाई एल्टीट्यूड का असर होना तो बनता था।

एक घंटा और चलने पर फिर एक बसावट दिखाई पड़ी। यह लुज़ा था। यहाँ दो-तीन होटल थे, लेकिन सभी बंद। अब तक हमें भूख लगने लगी थी और हम आराम भी करना चाहते थे। हम बारी-बारी से सभी होटलों में गए, लेकिन उनमें कोई नहीं मिला। मजबूरन एक दीवार की ओट में छाँव में बैठकर आराम किया, चने खाए और पानी पीया। थमसेरकू की भव्यता अभी भी कम नहीं हुई थी, लेकिन अब उसके इर्द-गिर्द बादल आने लगे थे। उधर उत्तर में चो-ओयू को भी बादलों ने ढक लिया था। एक हमीं थे, जो अभी भी बादलों से बचे थे। लगता कि सूर्य देवता ने कसम खा ली हो- 'तुम्हें धूप चाहिए थी, ये लो धूप। जितनी लेनी है, आज ही ले लो। फिर कभी मत माँगना।'

लुज़ा से आगे ठीकठाक चढ़ाई है और हम 4415 मीटर तक पहुँच गए। यहाँ एक छोटा-सा स्तूप बना था। याक चर रहे थे। याकों के बारे में मैंने कहीं पढ़ा था कि ये आक्रामक होते हैं और इन्हें कभी भी पूरा पालतू नहीं बनाया जा सकता। बस, तभी से इनसे डर लगने लगा था। लेकिन ये याक भी हमारी ही तरह थे। शायद इन्होंने भी कहीं भूलचूक से पढ़ लिया होगा, "दो पैरों पर चलने वाला, अपने शरीर को ढककर रखने वाला जानवर, जो हमेशा अपनी पीठ पर बोझा उठाए घूमता रहता है, पता नहीं कहाँ से आता है, कहाँ जाता है, बहुत ख़तरनाक होता है। अपने से कई गुने बड़े हम याकों को खूँटे से बाँधकर रखता है, पालतू बना लेता है, बोझा ढुलवाता है और दूध भी निकाल लेता है। इनसे जितना बच सको, बचना चाहिए।"

इसी पढ़ाई-लिखाई का नतीजा था कि ये हमसे दूर-ही-दूर रहे। हम पगडंडी पर इनके नज़दीक पहुँचते, तो ये बछड़ों समेत दूर भाग जाते।

इस स्तूप के बाद थोड़ी-सी उतराई है और नीचे उतरकर माछेरमा है। यह इस मार्ग का एक मुख्य स्थान है। इसका ज़िक्र हम नामचे बाज़ार से ही सुनते आ रहे थे। नामचे में जहाँ हम रात रुके थे, उसकी मालकिन ने बताया कि माछेरमा में 'स्नो लैंड लॉज' को उनकी बहन चलाती हैं, उनके यहीं रुकना। उन्होंने हमारा गोक्यो पहुँचने का तीन दिनों का कार्यक्रम भी बना दिया था- पहले दिन नामचे से डोले, दूसरे दिन माछेरमा और तीसरे दिन गोक्यो।

माछेरमा में कई सारे होटल-लॉज हैं। आरंभ में ही 'स्नो लैंड लॉज' है। यह खुला था और मालकिन इसके लॉन में धूप में मज़े से लेटी थीं। हम गए, नमस्ते-नमस्ते हुई और दो कॉफ़ी के लिए बोल दिया। हमने इनकी बहन का ज़िक्र किया, थोड़ी प्रशंसा भी की ताकि 100 रुपये की एक कप कॉफ़ी कुछ सस्ती मिल सके। लेकिन इन बातों का कोई असर नहीं हुआ। दाल-भात या कुछ भी खाने की चीज़ अभी उपलब्ध नहीं थी। यदि हम कहेंगे, तो बन

जाएँगे।

अभी डेढ़ ही बजा था, लेकिन हम आगे बढ़ने को आशंकित थे। गोक्यो पहुँचने में कितना समय लगेगा, कितनी दूर है हमें नहीं पता था। हमारी जानकारी के अनुसार बीच में फंगा नामक स्थान पर एक होटल है। लेकिन जिस तरह पीछे ल्हाफ़रमा और लुज़ा में होटल बंद थे, उसने हमें आशंकित कर दिया कि कहीं फंगा भी बंद न मिले। हमने यहाँ इस बारे में बातचीत की तो हमारी आशंका सच निकली। पता चला कि फंगा में केवल एक ही होटल है और आजकल वह बंद है।

हमारे पास स्लीपिगं बैग थे, टैंट नहीं था। होटल यदि बंद है, तो हम उसके बरामदे में या किसी भी छत वाले स्थान पर जाकर स्लीपिगं बैग में सो सकते थे। लेकिन ऐसा करना हमें समझदारी भरा नहीं लगा। कुछ देर बाद एक शेरपा गोक्यो की तरफ़ से यहाँ आया, तो उससे पता चला कि फंगा वाला होटल खुला है। यह हमारे लिए चल पड़ने का इशारा था। 350 रुपये की कोल्ड-ड्रिंक की एक बोतल निपटाई और चल दिए। चलते समय मालकिन ने कहा, "यदि किसी वजह से वह होटल बंद मिले, तो वापस यहीं लौट आना। इस समय गोक्यो जाने की कोशिश मत करना।" उनका यह सुझाव आधारहीन नहीं था। बाहर मौसम ख़राब होने लगा था, धूप ग़ायब हो गई थी।

माछेरमा में नाला पार करके थोड़ी-सी चढ़ाई है, एक स्तूप बना है। स्तूप से उत्तर का नज़ारा देखते ही बनता है। दूधकोसी अपने पूरे वेग से भयंकर शोर मचाती बहती है। और बहे भी क्यों न? आख़िर यही वो स्थान है, जहाँ से यह नदी अपनी यात्रा आरंभ करती है। हमें दिख तो नहीं रहा था, लेकिन सामने ही नगाज़ुंबा ग्लेशियर से यह निकलती है। इस ग्लेशियर को हम जी भरकर कल देखेंगे। इसके अलावा दाहिनी ओर से भी एक नदी आकर दूधकोसी में मिल रही थी, जो अवश्य ही चो-ला की तरफ़ से आती है। मैंने गूगल मैप के 'सैटेलाइट' और 'टैरेन' मोड में इस इलाक़े का अच्छी तरह अध्ययन कर रखा था। यहाँ से सब-कुछ साक्षात सामने दिख रहा था। अज़ब की अनुभूति थी। नदी के उस तरफ़ की पगडंडी भी अब नीचे आ गई थी। फंगा के आसपास ही कहीं वह नदी को पार करके इधर वाली पगडंडी में मिल जाएगी और यहाँ से भी एक रास्ता चो-ला के आधार थंगनाग तक जाता होगा।

स्तूप से फंगा वाला होटल दिखाई देता है। हरी छत वाला यह होटल तकरीबन डेढ़ किलोमीटर दूर होगा। रास्ता समतल, चढ़ाई बिल्कुल नहीं। जब तक हम फंगा पहुँचे, बूँदाबाँदी होने लगी थी, जो हमारे पहुँचते ही बारिश में बदल गई।

होटल के बाहर एक बोर्ड लगा था- "वेलकम टू फंगा व्यू पॉइंट लॉज, लास्ट स्टॉप टू गोक्यो एंड ... फ़्रॉम हियर टू 3 ऑवर्स ... गोक्यो।" अर्थात इसके बाद गोक्यो तक कोई भी होटल नहीं है और यहाँ से गोक्यो पहुँचने में 3 घंटे लगेंगे। साफ़ सुझाव भी था और आदेश भी था कि यहीं रुक लो। अभी तीन ही बजे थे। हम चाहते तो गोक्यो की ओर चल भी पड़ते। लेकिन एक तो ख़राब मौसम और दूसरा गोक्यो पहुँचने में तीन घंटे लगेंगे, इसमें संदेह भी था। हो सकता है कि चार घंटे लग जाएँ या पाँच घंटे भी लग जाएँ। हम जल्दबाज़ी करने वाले जीव नहीं हैं, इसलिए रुक गए। इसके मालिक एक हँसमुख बूढ़ा-

बुढ़िया थे। दो विदेशी भी बैठे थे। हममें और विदेशियों में केवल 'नमस्ते' का आदान-प्रदान हुआ। बारिश होने से ठंड बहुत बढ़ गई थी। वे लोग डाइनिंग रूम में ही रजाई में बैठे किताब पढ़ रहे थे।

"रूम कितने का है?"

"दू शय का।"

"रूम फ़्री और आम काना ईदर ई काएगा।"

"ओके। लेकिन किसी को बोलना नेई के रूम फ़्री है।"

"टीक है, नेई बोलेगा।"

बाहर बारिश पड़ती रही और हम रजाइयों में घुसे रहे। एक ही होटल था, आगे-पीछे कोई नहीं। खिड़की का पर्दा खोलते ही स्वर्गीय दृश्य सामने आ जाता था। हाँ, यदि मौसम ख़राब न होता तो यह दृश्य और भी स्वर्गीय होता।

मुझे सबसे मुश्किल कार्य जो लगता था, वो था रोज़ शाम को जूते खोलने के बाद जुराबें और पैर धोना- ठंडे पानी से। एक मग गर्म पानी कई सौ रुपये का आता था, इसलिए ठंडे पानी में ही डूबना पड़ता। दिनभर जूते पहनने के बाद मेरे पैरों में अच्छी-ख़ासी बदबू हो जाती है। इतनी बदबू कि मैं बिना पैर धोये रजाई में भी नहीं घुस सकता। और यदि हिम्मत करके घुस भी जाऊँ तो दीप्ति मुझे बे-रजाई कर देती- "चल, पैर धोकर आ और जुराबें भी और जूते कमरे से बाहर ही रखना।"

डाइनिंग रूम में बीचोंबीच एक अँगीठी थी। इतनी ऊँचाइयों पर पूरे हिमालय में ऐसी अँगीठियाँ मिलती हैं। अपने देश में हम इन्हें लद्दाखी अँगीठी कहते हैं। लोहे की होती है और इसकी गर्मी से पूरा कमरा गर्म रहता है। गनीमत थी कि इसके पास बैठने का कोई पैसा नहीं लगता था।

ख़ुशी इस बात की थी कि कल हम गोक्यो पहुँच जाएँगे और हमारी इस यात्रा का एक अध्याय पूरा हो जाएगा। मुझे झीलें देखना बहुत पसंद हैं और 4000 मीटर से ऊपर की झीलें तो वास्तव में बहुत सुंदर होती हैं।

अँधेरा होने पर बाहर निकला। क्या पता आकाशगंगा दिख जाए! लेकिन बादल बहुत घने थे। हमारे लद्दाख और लाहौल-स्पीति भी लगभग इतनी ही ऊँचाई पर हैं, लेकिन वे वर्षा-विमुख क्षेत्र में स्थित हैं, इसलिए न बारिश होती है और न बादल। आकाशगंगा बहुत समीप दिखाई देती है। लेकिन यहाँ इसकी कोई संभावना नहीं थी।

'आरती' सुनी और सुनते-सुनते सो गए:

"बाग़ों में झूलों के मौसम, वापस आए रे,

घर आ जा परदेसी, तेरा देस बुलाये रे।"

यह गाना हमें रोज़ लौटने को कहता था, लेकिन अब हम लौटने वाले नहीं थे। यात्रा का, ट्रैकिंग का आनंद आने लगा था।

पंद्रहवाँ दिन: फंगा से गोक्यो

23 मई 2016

सुबह छः बजे ही उठ गए। आज भी मौसम बेहद साफ़ था और बादलों का कहीं नामोनिशान नहीं था। यदि सुबह मौसम साफ़ रहे, दोपहर तक बादल आ जाएँ और शाम को बारिश हो जाए, तो इसे इतनी ऊँचाई पर सामान्य मौसम ही माना जाएगा। इसका अर्थ हुआ कि कल भी सामान्य मौसम था और आज भी। सुदूर उत्तर में चो-ओयू चोटी बर्फ़ से लकदक दिख रही थी और दक्षिण में थमसेरकू का साम्राज्य था। समझ नहीं आता था कि उत्तर की तरफ़ देखें या दक्षिण की तरफ़। गर्दन पर भी आँखें होतीं, तो कितना अच्छा होता!

चो-ओयू नेपाल और तिब्बत की सीमा पर स्थित है। यानी हम तिब्बती सीमा के इतना नज़दीक थे। यहाँ से चो-ओयू की हवाई-दूरी केवल 21 किलोमीटर ही थी। जाओ, चढ़ो चो-ओयू पर और उधर तिब्बत में कूद पड़ो। बिना वीज़ा की तिब्बत यात्रा भी हो जाएगी और चीन यात्रा भी। वैसे यह अलग बात है कि उधर उतरते ही चीनी आपको पकड़ लेंगे। चाहे दो दिन बाद पकड़ें या दस दिन बाद, आप पकड़े अवश्य जाओगे। यदि आप चो-ओयू नहीं चढ़ना चाहते, तो इससे थोड़ा पश्चिम में लगभग 5700 मीटर ऊँचा नांगपा-ला दर्रे से

नेपाल से तिब्बत जा सकते हैं। लेकिन यह इतना आसान नहीं है।

नांगपा-ला दर्रा बहुत पुराने समय से नेपाल के खुंबू और तिब्बत के बीच आने-जाने का प्रचलित मार्ग है। लेकिन इसके माथे एक कलंक भी लगा है। 30 सितंबर 2006 की बात है। कुछ तिब्बती अपने धर्मगुरू दलाई लामा के दर्शन करने भारत आ रहे थे। ज़ाहिर है कि उनकी यह यात्रा आधिकारिक नहीं थी। वे चीनियों से छुपकर ही आ सकते थे। इसके लिए उनके साथ कुछ गाइड भी थे, जो उन्हें रास्ता दिखा रहे थे। जब वे बर्फ़ से ढके नांगपा-ला दर्रे को पार कर रहे थे, तो चीनी सेना ने उन पर फ़ायरिंग कर दी। अब वहाँ चीनी सेना पहले से तो मौजूद नहीं रही होगी। हो सकता है कि पहले से ही संदेह के आधार पर चीनी सेना उनका पीछा कर रही हो और जब वे तिब्बत को लगभग छोड़ ही चुके थे, तो फ़ायरिंग कर दी। इसमें एक चोमो (बौद्ध भिक्षुणी) की मृत्यु हो गई और कई घायल भी हुए। इसके बावजूद भी कुछ लोग भारत आने में सफल रहे। उन्होंने दिल्ली में प्रेस कांफ्रेंस करके इसकी सूचना दुनिया को दी। इसे चीन ने झूठ बताया।

लेकिन जिस समय फ़ायरिंग हुई, उसी समय कुछ यूरोपियन पर्वतारोही चो-ओयू बेस कैंप पर थे और चढ़ाई की तैयारी कर रहे थे। चो-ओयू बेस कैंप तिब्बत के अंदर है और वहाँ से नांगपा-ला बहुत नज़दीक है। उन्होंने न केवल इस घटना को देखा, बल्कि इसकी वीडियो भी बनाई। वापस लौटकर जब वह वीडियो सार्वजनिक हुई, तो इस घटना की सच्चाई दुनिया को पता चली।

यह कहानी थी नांगपा-ला की।

तो यहाँ फंगा से चो-ओयू दिख रही थी। ठीक सात बजे एक प्लेट 'पोटैटो फिंगर चिप्स' कॉफ़ी के साथ खाकर हम चल पड़े। थोड़ी-सी उतराई है, उसके बाद चढ़ाई आरंभ हो जाती है। रास्ता दूर तक दिखता है, लेकिन चढ़ाई ज़्यादा कठिन नहीं है। रास्ते में याकों का एक झुंड मिला। हम उनसे सावधान थे और वे हमसे।

डेढ़ घंटे चलने के बाद हम 4600 मीटर की ऊँचाई पर पहुँच गए। यहाँ लोहे का एक छोटा-सा पुल था। यह गोक्यो से आने वाली जलधारा पर बना था। यह जलधारा ठीक पुल के बग़ल में दूधकोसी में मिल जाती है। दूधकोसी भी ठीक इसी स्थान पर नगोजुंपा ग्लेशियर से निकलती है। ग्लेशियर हालाँकि यहाँ से तो दिखाई नहीं देता, लेकिन उसके द्वारा लाई गई मिट्टी और चट्टानें ख़ूब दिखते हैं। मैं ज़्यादा तो नहीं बता सकता, लेकिन जिसने पहले कुछ ग्लेशियर देख रखे हों, उनके लिए ऐसे स्थानों की पहचान करना आसान है। ग्लेशियर को हिंदी में हिमनद कहते हैं और सबसे बड़ी बात यह है कि हिमनद प्रवाहमान होते हैं। भले ही इनमें हमेशा बर्फ़ जमी रहती हो, लेकिन हर साल ये कुछ इंच आगे बढ़ते हैं। अब भले ही 'ग्लोबल वार्मिंग' के कारण ये सिकुड़ने लगे हों, लेकिन फिर भी इनमें प्रवाह होता है। सदियों से प्रवाहमान होते रहने के कारण इनमें आसपास की चट्टानें भी समा जाती हैं और जहाँ ग्लेशियर समाप्त होता है और नदी का उद्गम होता है, वहाँ हिम कम और ये चट्टानें और मिट्टी ही ज़्यादा व एक निश्चित 'पैटर्न' में दिखाई देती हैं। हमारे दाहिनी तरफ़ ऐसा ही नज़ारा था। हमें आभास हो गया कि नगोजुंपा ग्लेशियर यही है।

मेरी जानकारी में गोक्यो क्षेत्र में पाँच झीलें हैं। तीसरी झील के किनारे होटल मिलेंगे। ऊँचाई लगभग 4700 मीटर है। अभी हम 4600 मीटर पर थे। यानी हमें 100 मीटर और ऊपर चढ़ना था। अभी पहली झील भी नहीं आई थी, इसलिए अंदाज़ा हो गया कि आगे रास्ता बहुत आसान है। दक्षिण की तरफ़ देखने पर थमसेरकू और भी भव्य दिखाई दे रही थी। जितना इससे दूर जा रहे थे, प्रतीत होता था कि इसका आकार और भव्यता बढ़ती जा रही थी। उत्तर में एक छोटा-सा टीला बीच में आ गया था, अन्यथा चो-ओयू भी दिखती।

मौसम साफ़ था, तो कहने की आवश्यकता नहीं कि धूप बहुत तेज़ थी। दीप्ति ने पहले कभी इतनी ऊँचाई पर ट्रैकिंग नहीं की थी, इसलिए उसे 'एल्टीट्यूड सिकनेस' होने लगी। वह वहाँ उपस्थित ज़रूर थी, लेकिन न उसका मन लग रहा था और न ही वह आनंद ले पा रही थी। धूप में वैसे भी आलस आता है और इतनी ऊँचाई पर तो भयंकर आलस आता है। मन करता है कि लेट जाएँ और कपड़े से मुँह ढककर सो जायें।

लोहे के पुल से पाँच मिनट ही चले कि गोक्यो की पहली झील आ गई। उत्तर में एक बर्फ़ीली चोटी भी दिखने लगी। शायद यह चो-ओयू नहीं थी, लेकिन उसके बग़ल वाली अवश्य थी। इतनी ऊँचाइयों पर बर्फ़ीली चोटियों का होना तो अनिवार्य है, लेकिन झील का होना अनिवार्य नहीं है। यहाँ झील भी थी, तो यह स्थान स्वत: ही विलक्षण की श्रेणी में आ जाता है। यह पहली झील गोक्यो की झीलों में सबसे छोटी है, लेकिन फिर भी ऊँचाई के हिसाब से काफ़ी बड़ी थी। आधे घंटे इसके किनारे बैठे रहे। यहाँ दूर-दूर तक केवल हमीं थे, और कोई नहीं। दीप्ति को फ़ोटो खिंचवाने के दौरान हँसना पड़ा। 'एल्टीट्यूड सिकनेस' में हँसने का बिल्कुल भी मन नहीं करता, लेकिन वह जानती थी कि कुछ सेकंडों के लिए हँसना है। यदि नहीं हँसेगी, तो वापस घर लौटकर ये शानदार फ़ोटो मनहूस लगेंगे।

इससे थोड़ा ही आगे 4680 मीटर की ऊँचाई पर दूसरी झील है। यह पहली से थोड़ी बड़ी है। यहाँ से गोक्यो-री चोटी शानदार दिख रही थी और उस पर जाने वाली पगडंडी भी। वह 5300 मीटर से भी ऊँची चोटी है। इस पर बर्फ़ नहीं थी और गोक्यो आने वाले ज़्यादातर ट्रैकर्स वहाँ भी जाते हैं, इसलिए अच्छी-खासी पगडंडी बन गई थी, जो यहाँ से भी स्पष्ट दिख रही थी। हम कल वहाँ जाएँगे। वैसे तो हमारे पास आज भी समय था, लेकिन दीप्ति की हालत इतनी अच्छी नहीं थी कि हम आज ही वहाँ जा सकें। रात भर में वह ठीक हो जाएगी और कल हम वहाँ जाएँगे।

यह झील पहली झील के मुक़ाबले ज़्यादा गहरी थी, इसलिए इसका पानी ज़्यादा नीला था। आधे घंटे इसके किनारे पड़े रहे। झीलों का यही सौंदर्य है और यही आकर्षण भी।

कुछ देर और चले। एक छोटा-सा स्तूप मिला। कुछ झंडियाँ लगी थीं। यहाँ थी गोक्यो की तीसरी झील। इसी के किनारे बसावट है और होटल आदि बने हैं। सवा ग्यारह बजे हम 'माउंटेन व्यू लॉज' में एक कमरा ले चुके थे। ऊँचाई थी 4720 मीटर। इस लॉज की मालकिन पच्चीस-छब्बीस साल की एक हँसमुख लड़की थी। इसने बताया कि फंगा (जहाँ हम कल रात रुके थे) वाला होटल इसके पिताजी चलाते हैं। हमने फ़्री कमरे की बात की, जिसे इसने एकदम मान लिया। बिना ना-नुकूर किए।

कमरे की खिड़की का परदा हटाया। सामने समूची गोक्यो झील थी। मैं मंत्रमुग्ध-सा बैठा

देखता रहा। लेकिन दीप्ति को कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा था। उसके सिर में भी दर्द होने लगा था। वह आते ही रजाई तानकर लेट गई। मैंने उसे आश्वासन दिया कि इतनी ऊँचाई पर ऐसा होना स्वाभाविक है। मन न होने के बावजूद भी तू ख़ूब खाना खा और ख़ूब पानी पी।

देखते-ही-देखते बादल घिर आए और बर्फ़बारी शुरू हो गई। झील का दूसरा किनारा दिखना बंद हो गया और समुद्र किनारे होने जैसा एहसास होने लगा। हवा चलने के कारण ख़ूब लहरें उठ रही थीं, जिनकी ध्वनि यहाँ तक भी सुनाई दे रही थी।

आख़िर कब तक देखते रहते! परदा बंद किया, मैंने भी रजाई ओढ़ी और लंबी तानकर सो गया।

शाम चार बजे के आसपास आँख खुली। बड़ी मुश्किल से दीप्ति को उठाया। उसके सिर में अभी भी दर्द था। बाहर बर्फ़बारी बंद हो चुकी थी, मौसम साफ़ था। झील के परली तरफ़ के पहाड़ों में कहीं रेंजो-ला दर्रा था, जो शायद हमें दिख भी रहा हो। रेंजो-ला के उस तरफ़ भोटे कोसी नदी है, जो नामचे बाज़ार के नीचे दूधकोसी में मिलती है। बहुत से ट्रैकर्स रेंजो-ला भी पार करते हैं। हमें उधर नहीं जाना था।

कुछ टमाटर सूप पीया, कुछ चाऊमीन खाई। लॉज की मालकिन ने डाइनिंग रूम के बीचोंबीच रखी अँगीठी जला दी। यहाँ अँगीठी के पास दीप्ति का मन रम गया। उससे बाहर चलकर झील के किनारे कुछ देर बैठने को भी कहा, लेकिन बर्फ़बारी के बाद की भयंकर ठंड में किसका मन करता है बाहर जाने का!

इस समय हवा बिल्कुल नहीं चल रही थी। झील का पानी एकदम शांत था। इतना शांत कि उस पार की चोटियों का हू-ब-हू परावर्तन दिख रहा था। जमकर फ़ोटो खींचे। कई फ़ोटो तो वाक़ई बेहद शानदार आए।

वापस डाइनिंग रूम में जब घुसा तो मैं ठंड से काँप रहा था। अँगीठी के पास बैठना स्वर्गीय अनुभव था। एक यही तो चीज़ है इस ट्रैक में जो फ़्री मिलती है, अन्यथा गर्म पानी तक के कई सौ रुपये देने पड़ते हैं। हम अँगीठी की गर्मी को ही गर्म पानी समझकर ग्रहण करते रहे। लॉज मालकिन भी यही बैठी थी। हम तीनों ही थे। और कोई नहीं। अब ट्रैकिंग का सीज़न ख़त्म होने वाला था, अक्टूबर में फिर से आरंभ हो जाएगा। हम उससे ख़ूब बातें करना चाहते थे, लेकिन भाषा की समस्या सामने थी। हिंदी उसे नहीं आती थी और अँग्रेज़ी व नेपाली हमें नहीं। मज़ा तो तब आया, जब मैंने भारतीय अँग्रेज़ी में उससे कुछ पूछा और उसने यूरोपियन लहज़े में उत्तर दिया- "आई डोन्नो।" मैं बड़ी देर तक सोचता रहा, ख़ूब देर तक माथापच्ची करता रहा कि 'डोन्नो' क्या बला है, लेकिन समझ नहीं पाया। अगले दिन जाकर समझ आया कि यह 'डोंट नो' था। अब यदि इतनी साधारण बात भी अगले दिन समझ में आएगी, तो हो ली स्थानीय और विदेशियों से बातचीत।

कमाल की बात यह रही कि इनके मोबाइल में हिंदी गाने भी थे और यह स्वयं भी हिंदी गाने गुनगुना रही थी। हमने अपने मोबाइल में पुराने गाने बजाए, तो इसने भी साथ-साथ गुनगुनाना शुरू कर दिया।

सात बजे के आसपास अपने कमरे में आ गए। अपनी-अपनी रजाईयों में पड़े हुए यही

महसूस करते रहे कि इतने दिनों बाद (आठ दिनों की ट्रैकिंग के बाद) हमने एक पड़ाव पा लिया है। गोक्यो झील इस यात्रा का एक अहम पड़ाव था। बेसकैंप केवल एवरेस्ट के कारण प्रसिद्ध है, लेकिन असली नैसर्गिक सुंदरता तो झीलों में ही होती है। वह यहाँ आकर पता भी चल रहा था।

दिन में सो लिए थे, इसलिए जल्दी नींद नहीं आई। दीप्ति अपने शॉल से सिर को लपेटे हुए थी, सिरदर्द अभी भी था। मुझे यक़ीन था कि सुबह तक उसका शरीर ऊँचाई के अनुकूल हो जाएगा और वह सामान्य हो जाएगी।

भला 'आरती' के बिना नींद कैसे आती!

"घर आ जा परदेसी, तेरा देस बुलाये रे।"

वाक़ई देश बुला रहा था। हम यहाँ पूरा नेपाल पार करके तिब्बत के बहुत नज़दीक थे, फिर भला अपना देश क्यों न बुलाता! अपने हिमालय में ऐसी जगह पर होते, तो लाजवाब राजमा-चावल और आलू के पराठे तो आसानी से मिल ही जाते। हम दाल-भात और राजमा-चावल के अंतर को समझने लगे थे और आलू के पराठों को तो रोज़ ही याद करते। आज हमने एक प्रतिज्ञा भी की:

"दिल्ली जाकर सबसे पहला काम जो करना है, वो है चाँदनी चौक पराठों वाली गली में पराठे खाना।"

हम भारतीय कितने चटोरे होते हैं!

सोलहवाँ दिन: गोक्यो और गोक्यो-री

24 मई **2016**

हमेशा की तरह आराम से नौ बजे सोकर उठे। आज हमारी यात्रा का एक सुकूनभरा दिन था। आप गोक्यो जैसी जगह पर हों, तो एक दिन आराम करना तो बनता भी है। मौसम अच्छा था, लेकिन आसमान में बादलों के सफ़ेद टुकड़े अवश्य विरामजान थे। इसका अर्थ था कि अब इनका आकार बढ़ता जाएगा और घंटे-दो घंटे में ही ये पूरे आसमान को अपने क़ब्ज़े में कर लेंगे।

दीप्ति को थोड़ा आराम था। कल वह पूरी तरह उच्च पर्वतीय बीमारी की चपेट में थी। आराम करने और खाते-पीते रहने के कारण उसे फ़ायदा हुआ। रात अच्छी नींद आई, जो एक अच्छा संकेत था।

आज हमारा इरादा गोक्यो-री जाने का था। 'री' का अर्थ होता है चोटी। गोक्यो के पास 5300 मीटर से ऊँची एक चोटी है, इसे ही गोक्यो-री कहा जाता है। इस पर चढ़ना आसान है, हालाँकि अत्यधिक ऊँचाई का असर तो पड़ता ही है। दीप्ति ने पहले तो ना-नुकूर की,

लेकिन बाद में चलने को राज़ी हो गई। हम लगभग 4700 मीटर पर थे। ऐसे इलाक़े में 600 मीटर चढ़ना भी बेहद मायने रखता है। मुझे दीप्ति पर लगातार निगाह रखनी पड़ेगी। वह अभी भी पूरी तरह ठीक नहीं हुई है। और ऊपर जाने पर उसकी तबियत और ज़्यादा ख़राब हो सकती है।

भरपेट नाश्ता करके साढ़े दस बजे यहाँ से चल दिए। कुछ ट्रैकर्स ऊपर गोक्यो-री से आते दिखाई दे रहे थे। लेकिन उतनी चहल-पहल नहीं थी। अब ट्रैकिंग का सीज़न समाप्त जो होने लगा था। सितंबर में फिर से यहाँ दो-तीन महीनों के लिए भीड़ बढ़ जाएगी।

पहले क़दम से ही ज़ोरदार चढ़ाई है, जो आख़िर तक बनी रहती है। हमने अपने साथ मफ़लर-दस्ताने ही रखे थे और पानी की बोतल भी। रेनकोट नहीं रखा। यहाँ इतनी ऊँचाई पर बारिश तो क्या होगी, बर्फ़ ही गिरेगी।

जैसे-जैसे ऊपर चढ़ते जाते हैं, गोक्यो झील का विहंगम नज़ारा दिखने लगता है। साथ ही यह भी पता चला कि होटलों के पीछे एक छोटी-सी दीवार जैसी है, उसके उधर नगोज़ुंपा ग्लेशियर है। मन कर रहा था कि यहीं बैठकर इसे ही निहारते रहे। थोड़ा और दाहिने निगाह गई तो गोक्यो की दूसरी झील भी दिखाई पड़ी। लेकिन यह नज़ारा ज़्यादा देर नहीं टिका रह सका। नीचे से बादलों का रेला चला आ रहा था, जिसने पल भर में ही दूसरी झील को ढक लिया। अगली बारी ग्लेशियर और इस तीसरी झील की है। मुझे इसी बात का डर था। ऊपर गोक्यो-री से एवरेस्ट भी दिखाई देती है। लगता है कि ये बादल एवरेस्ट नहीं देखने देंगे। काश! पंख होते और हम झट से उड़ जाते और बादलों से पहले ऊपर पहुँच जाते। लेकिन यहाँ तो हम चाहकर भी तेज़ नहीं चल सकते।

ख़ूब आवाज़ाही होते रहने के कारण स्पष्ट पगडंडी बनी थी और भटकने का कोई डर नहीं था। हमारे पीछे-पीछे दो विदेशी और आ रहे थे। लेकिन वे भी उच्च पर्वतीय बीमारी से पीड़ित प्रतीत हो रहे थे। दीप्ति को भी बार-बार बैठना पड़ रहा था। वह थोड़ी देर बैठती, फिर दो क़दम चलती और फिर बैठ जाती। आख़िरकार जब हम लगभग 5100 मीटर पर थे, उसने हिम्मत छोड़ दी- “अब और आगे नहीं जा सकती।”

एक बड़ी-सी चट्टान ढूँढ़ी, ताकि वह तेज़ हवाओं से बची रहे। यह चट्टान केवल तेज़ हवाओं से उसे बचा सकती थी, बर्फ़बारी से नहीं बचा सकती थी। और इस समय वास्तव में बहुत तेज़ हवा चल रही थी। चूँकि हवा नीचे से ऊपर की तरफ़ आ रही थी, इसलिए अगर हवा न चल रही होती, तो हमें ऊपर चढ़ने के लिए और ज़्यादा ताक़त लगानी पड़ती। घने बादलों के कारण नीचे दस मीटर से दूर कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा था। गोक्यो झील तो 300 मीटर नीचे थी, इसलिए उसके दिखने का सवाल ही नहीं। हमारे पीछे आ रहे विदेशी भी नहीं दिख रहे थे। बाद में पता चला कि वे बीच में से ही कहीं से वापस मुड़ गए थे। वे भी हिम्मत हार गए थे। बल्कि इसे मैं हिम्मत हारना भी नहीं कहूँगा। नीचे 100-200 मीटर की ऊँचाई पर रहने वाले इस 5000 मीटर पर जल्दी ‘एडजस्ट’ नहीं हो पाते। परेशानी तो मुझे भी हो रही थी, लेकिन पहले भी कई बार 5000 मीटर पर चढ़ने के कारण उतना मुश्किल नहीं लग रहा था।

दीप्ति से कह दिया कि कम-से-कम दो घंटे लगेंगे मुझे लौटने में, तब तक यहीं बैठकर

आराम करना। हालाँकि एक डर यह भी था कि कहीं उसे बैठे रहने के कारण ठंड न लगने लगे। दूसरा डर था दो घंटे तक बिल्कुल सुनसान में अकेले बैठने का, वो भी बादलों के बीच, जहाँ दस मीटर से आगे का कुछ भी नहीं दिख रहा। लेकिन दीप्ति इस दूसरे डर से डरने वाली नहीं थी। काश! बादल न होते तो गोक्यो की तीनों झीलें दिखाई देतीं और क्या पता एवरेस्ट भी।

एक घंटा और चलने के बाद मैं 5250 मीटर की ऊँचाई तक पहुँच गया। यहाँ से आगे चोटी बादलों से ज़रूर ढकी थी, लेकिन अंदाज़ा हो रहा था कि ज़्यादा दूर नहीं है। यहाँ एक कूड़ेदान भी था जिसे सागरमाथा पॉल्यूशन कंट्रोल कमेटी ने रखा था। इस पर इस बारे में अँग्रेज़ी में लिखा भी था। पाँच मिनट यहाँ रुककर आख़िरी चढ़ाई के लिए चल दिया।

लगभग डेढ़ बजे मैं 5315 मीटर की ऊँचाई पर गोक्यो-री पर था। चोटी पर बौद्ध झंडियाँ लगी थीं, जो तेज़ हवा में फड़फड़ा रही थीं। मानों कह रही हों कि यही मंज़िल है। यहाँ से चारों ओर ढलान था। घने बादल होने के कारण एक अलग ही अनुभूति हो रही थी। बादल न होते तो एवरेस्ट और ल्होत्से समेत चारों तरफ़ की सभी चोटियाँ दिखतीं, धुर से धुर तक नगोजुंपा ग्लेशियर दिखता, तीनों झीलें दिखतीं और रेंजो-ला और चो-ला भी दिखते। और क्या पता नीचे बैठी दीप्ति भी दिखती।

बादलों ने थोड़ा-सा मौक़ा दिया तो चोटी के बग़ल में एक छोटी-सी, नन्ही-सी झील दिखी। लेकिन इस तक पहुँचना न आसान था और न ही समझदारी भरा। इसलिए इसे यहीं से निहार लिया और एक फ़ोटो ले लिया। कैमरा चट्टान पर रखकर कुछ अपने भी फ़ोटो खींचे और वापसी की यात्रा शुरू कर दी।

कल्पना कीजिए आप गोक्यो-री पर हो- 5315 मीटर की ऊँचाई पर। चारों तरफ़ सफ़ेद बादल हों और कुछ भी न दिख रहा हो। कैसा लगेगा? आपको तो पता नहीं कैसा लगेगा, लेकिन मेरे लिए यह बेहद रोमांचकारी क्षण था। मैं स्वयं को एक ऐसे अत्यधिक ऊँचे टावर पर खड़ा हुआ महसूस कर रहा था, जहाँ से नीचे कुछ भी न दिखाई दे रहा हो। इससे ज़्यादा अपनी अनुभूति मैं नहीं बता सकता।

नीचे उतरना आरंभ कर दिया। लेकिन ढलान इतना अधिक था कि हर समय फिसलने का डर था। फिर भी उतरने में काफ़ी तेज़ी दिखाई। दो बज चुके थे और चारों तरफ़ जिस तरह बादल थे और हवा चल रही थी, उससे लग रहा था कि किसी भी समय बर्फ़बारी हो सकती है। मैं बर्फ़बारी का सामना नहीं करना चाहता था। यही आशंका नीचे बैठी दीप्ति को भी हुई और उसने उचित निर्णय ले लिया। मैं जब उसके बैठे स्थान पर पहुँचा तो वह वहाँ नहीं मिली। लेकिन उसने अपना एक दस्ताना छोटे पत्थर के नीचे रख दिया था, साथ ही तीर का एक निशान भी बना दिया था, जिसका अर्थ था कि वह नीचे की तरफ़ चली गई है।

थोड़ा आगे वह मिल गई। वह तेज़ी से नीचे नहीं उतरती, लेकिन अब उसने काफ़ी तेज़ी से रास्ता तय किया। पौने तीन बजे हम झील के किनारे थे। अब न हमें हवा का डर था और न बर्फ़बारी का। काफ़ी देर तक यहीं झील किनारे बैठे रहे। इसमें उठती लहरों को देखते रहे। साफ़ पानी के नीचे पड़े पत्थरों को देखते रहे। सामने से आ रहे बादलों को देखते रहे।

अभी तीन ही बजे थे। मेरी इच्छा गोक्यो की चौथी झील तक जाने की थी। यहाँ से

उसकी दूरी ढाई-तीन किलोमीटर है। सुना है कि वह इस तीसरी झील से भी बड़ी है। इतना नज़दीक होने के बावजूद भी वहाँ कम ही ट्रैकर्स जाते हैं। इसका कारण शायद यह हो सकता है कि वहाँ रुकने-खाने का कुछ भी ठिकाना नहीं है। जो भी है, यहीं है। चढ़ाई भी ज़्यादा नहीं है, दो-तीन घंटे में लौट-फ़ेर हो सकती है। लेकिन लगातार ख़राब होते मौसम को देखते हुए वहाँ जाना रद्द करना पड़ा।

झीलें मुझे बहुत ज़्यादा आकर्षित करती हैं। और हिमालयी झीलों के तो कहने ही क्या! ऊपर से 4000 मीटर से ज़्यादा की ऊँचाई। यहाँ आकर एक बड़ी झील देखने से रह जाए, तो इसकी टीस केवल मैं ही महसूस कर सकता हूँ या फिर मेरे जैसा ही कोई। दीप्ति पर इस समय ए.एम.एस. (उच्च पर्वतीय बीमारी) का पूरा असर हो रहा था। उसके सिर में दर्द था और उसे कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा था। मैंने उसे गर्म पानी पीने को कहा, तो वह ग़ुस्सा हो गई। ग़ुस्सा आना, अपने आप पर क़ाबू न होना, यह इतनी ऊँचाई पर अक्सर हो जाता है। बड़ी मुश्किल से उसे समझाया। अगर मुझे भी ए.एम.एस. का असर होता, तो आज हमारी अच्छी लड़ाई हो जाती और शायद आज ही हम बेसकैंप छोड़-छाड़कर नामचे की तरफ़ कूच कर जाते।

अब जब दिल्ली वापस लौटकर मैं दीप्ति से इस बारे में बात करता हूँ, तो वह कहती है, “पता नहीं मुझे उस समय क्या हो गया था।”

रात तक भी मौसम ठीक नहीं हुआ, तो कई तरह की आशंकाएँ मन में उठने लगीं। कल हमें गोक्यो छोड़कर एवरेस्ट के इलाक़े में प्रवेश कर जाना है और इसके लिए 5300 मीटर ऊँचा चो-ला दर्रा पार करना है। मुझे इसी चो-ला के बारे में आशंका हो रही थी। आज का ख़राब मौसम वहाँ बर्फ़बारी कर देगा और कल हमें उसे पार करने में अच्छी-ख़ासी मशक़्क़त करनी पड़ेगी। दर्रे वैसे भी ख़तरनाक होते हैं और 5300 मीटर की ऊँचाई वाला कोई भी दर्रा ‘नरमदिल’ तो क़तई नहीं होता। तो क्या चो-ला के रास्ते न जाकर फुरचे, फेरीचे का लंबा चक्कर काटकर जाना चाहिए?

इस दुविधा को दीप्ति के सामने रखा, “कल हम चो-ला नहीं जाएँगे। ख़तरनाक मामला हो सकता है।”

उसने कहा, “नहीं, कल चो-ला के रास्ते ही जाएँगे। क्योंकि गोक्यो-री और चो-ला लगभग बराबर ऊँचाई पर हैं। गोक्यो-री पर बर्फ़ नहीं है, तो चो-ला पर भी नहीं होगी।”

मैंने कहा, “दोनों में बहुत फ़र्क़ है। गोक्यो-री एक चोटी है और इसके चारों तरफ़ खुला वातावरण है। चारों तरफ़ से हवा लगती है, तो बर्फ़ समाप्त हो जाती है। जबकि चो-ला एक दर्रा है। वहाँ चारों तरफ़ से हवा लगने की संभावना नहीं है, इसलिए बर्फ़ ज़्यादा देर तक टिकी रहती है। फिर दर्रों के दोनों तरफ़ ढलान भी बहुत ज़्यादा होता है। अगर बर्फ़ हुई तो हम उस ढलान पर न चढ़ पाएँगे और न उतर पाएँगे। बहुत ख़तरा है।”

दीप्ति बोली, “नहीं, हम चो-ला के रास्ते ही चलेंगे। तू हमेशा बे-वजह डरता रहता है।”

फ़िलहाल तो दीप्ति की बात मान ली। क्योंकि दीप्ति को दर्रों के माहौल का अनुभव नहीं है। सोचा कल इसे अनुभव भी हो जाने दो। या तो पार कर जाएँगे, नहीं तो लौट आएँगे।

सत्रहवाँ दिन: गोक्यो से थंगनाग

25 मई 2016

आज जल्दी ही उठ गए। क्योंकि आज हमें बहुत लंबी दूरी तय करनी थी। गोक्यो से चलकर चो-ला दर्रा पार करके उस तरफ़ ज़ोंगला तक पहुँचना था। गोक्यो से तीन घंटे आगे नगोजुंपा ग्लेशियर पार करके थंगनाग नामक स्थान है, जहाँ कुछ होटल हैं। फिर थंगनाग के बाद ज़ोंगला तक कुछ नहीं है। लगभग सभी ट्रैकर्स थंगनाग से सुबह निकलकर शाम तक ज़ोंगला पहुँचते हैं या फिर इसका उल्टा करते हैं। हमें 4000 मीटर से ऊपर आज चौथा दिन था, यह हमारे लिए राहत की बात थी। तो हम गोक्यो से जल्दी निकलकर शाम अँधेरा होने तक ज़ोंगला पहुँचने के बारे में निश्चिंत थे। दीप्ति भी फ़िलहाल अच्छा अनुभव कर रही थी।

बाहर झाँका तो होश उड़ गए। रात बर्फ़बारी हुई थी और अभी तकरीबन दो इंच बर्फ़ थी। बर्फ़ हमेशा ही ख़ूबसूरत होती है और ताजी बर्फ़ के तो कहने ही क्या! चप्पे-चप्पे पर बर्फ़ का साम्राज्य। झील का नीला पानी भी परली तरफ़ के पहाड़ों की बर्फ़ के परावर्तन के कारण सफ़ेदी लिए था। गोक्यो-री जो कल तक दिगंबर बनी हुई थी, अब श्वेतांबर बन गई थी। जी भरकर फ़ोटो लिए। फ़िलहाल मौसम साफ़ था, तो धूप के कारण बर्फ़ पिघलने लगी थी। छत से बर्फ़ के छत्ते के छत्ते नीचे गिरते, तो दीप्ति चिल्लाकर उनकी तरफ़ इशारा करती।

लेकिन मैं चिंतित भी था। अगर आपको चढ़ाई करनी है और आपका पहला ही क़दम बर्फ़ पर पड़े तो समझना कि आप बहुत मुश्किल रास्ते पर जाने वाले हैं। मैंने दीप्ति से फिर कहा, “रात बर्फ़ पड़ी है। चो-ला पर रास्ता अगम्य हो गया होगा।” लेकिन उसने कभी इन बातों का सामना नहीं किया था, तो उसे कुछ भी अंदाज़ा नहीं था कि मैं किन कठिनाइयों की बात कर रहा हूँ। उसके लिए ताज़ी बर्फ़बारी एक रोमांटिक अनुभव था। चो-ला पर और ज़्यादा बर्फ़ मिलेगी, इस बात से वह और ज़्यादा उत्साहित हो गई। उधर मन तो मेरा भी था चो-ला पार करने का, लेकिन बर्फ़ के कारण डरा हुआ था। और मेरा यह डर निराधार नहीं था। ट्रैकिंग में बर्फ़ बहुत ख़तरनाक होती है।

आज फिर जब दीप्ति ने ज़िद की, तो आख़िरकार यही विचार मन में आया, चो-ला ही चलते हैं। दीप्ति को भी इन कठिनाइयों का अंदाज़ा हो जाने दो। आज हम मुश्किल में पड़ेंगे, अगली बार यह ऐसी ज़िद करेगी ही नहीं।

कुल 3600 रुपये का बिल बना। हम यहाँ दो रात रुके थे, जिनका कोई किराया नहीं लगा। जब मैं इस पूरे ख़र्चे को अपनी डायरी में हिंदी में लिख रहा था, तो होटल-मालिक आश्चर्य-चकित हो गया, “अरे, आप तो नेपाली में लिख रहे हैं!”

मैंने कहा, “हाँ, मैं नेपाली लिखना-पढ़ना जानता हूँ, लेकिन बोलना- समझना नहीं।”

उसने कहा, “आप एक विदेशी होकर हमारी भाषा लिख रहे हैं, यह हमारे लिए बड़े सम्मान की बात है। हम आपसे 100 रुपये कम लेंगे।”

और उन्होंने 3500 रुपये लिए। उसे नहीं पता था कि हिंदी भी देवनागरी में लिखी जाती है और मैं नेपाली नहीं बल्कि हिंदी लिख रहा था।

पौने आठ बजे हम यहाँ से चल दिए। आज हमसे पहले यहाँ से कोई नहीं गुज़रा था, इसलिए शुरू में पगडंडी मिलने में परेशानी आई। बर्फ़ भले ही कम थी, लेकिन रास्ता ढका हुआ था। पचास मीटर ऊपर चढ़कर जब हम नगोजुंपा ग्लेशियर के किनारे पहुँचे तो नज़ारा विस्मित कर देने वाला था। इससे पहले मैंने इतना पास से केवल गौमुख ग्लेशियर ही देखा था। ग्लेशियरों में मिट्टी और पत्थर इस क़दर मिले होते हैं कि बर्फ़ आसानी से दिखाई नहीं देती। दीप्ति को समझने में बड़ा समय लगा कि इन पत्थरों और मिट्टी के नीचे कठोर बर्फ़ मौजूद है। चूँकि इनकी सतह बड़ी ही ऊबड़-खाबड़ होती है, इसलिए कहीं-कहीं कठोर बर्फ़ के दर्शन हो जाते हैं। वह भी इतनी काली होती है कि कोई मुश्किल ही यक़ीन कर पाता है कि यह बर्फ़ है।

यहाँ किनारे से ग्लेशियर की सतह तक उतरना बहुत मुश्किल था। अच्छा था कि हल्की-सी पगडंडी बनी थी। हमें रास्ता मिलता रहा। लेकिन इसके बाद भी उतराई-चढ़ाई चलती रही।

इस ग्लेशियर को दुनिया के सबसे लंबे ‘नॉन-पोलर’ ग्लेशियरों में से एक माना जाता है। जहाँ से हम इसे पार कर रहे थे, वहाँ से कुछ ही दूर हिमनद-मुख है और दूधकोसी नदी का जन्म होता है। अर्थात यहाँ से कुछ ही आगे चलकर यह ग्लेशियर समाप्त हो जाता है। इसलिए यहाँ ग्लेशियर पर अनगिनत छोटी-छोटी झीलें हैं। ये झीलें चूँकि पूर्णत: ग्लेशियर के ऊपर हैं, इसलिए चारों तरफ़ से कठोर बर्फ़ से घिरी होती हैं। समय-समय पर बर्फ़ के टुकड़े टूटकर झीलों में गिरते रहते हैं। यदि बर्फ़ के टुकड़े न भी टूटें, तो भी पानी की महीन अनगिनत धाराओं का प्रवाह इनमें होता रहता है। बर्फ़ के ऊपर मिट्टी और पत्थरों की भरमार है, इसलिए किनारे पर रखे पत्थर और मिट्टी भी झीलों के पानी में गिरते रहते हैं। इनके गिरने की आवाज़ें चारों तरफ़ से अनवरत आती रहती हैं। कोई बड़ा पत्थर या बर्फ़ का बड़ा टुकड़ा गिरता है, जो ज़्यादा ज़ोर की आवाज़ आती है। और ये आवाज़ें डरावनी होती हैं।

इन्हीं झीलों में से एक का आकार भारत के नक़्शे जैसा था। हम इसे देखकर बड़े ख़ुश हुए। चूँकि ये झीलें बड़ी तेजी से आकार बदलती रहती हैं, इसलिए कुछ ही दिनों में यह नक़्शा भी बदल जाएगा।

दीप्ति ने कहा, “यदि मैं यहाँ अकेली आती या तू मुझे नहीं बताता, तो मुझे कभी भी पता नहीं चलता कि हम ग्लेशियर पर हैं और झीलों के जो काले फिसलन भरे किनारे हैं, वे कठोर बर्फ़ हैं।”

हमें इस ग्लेशियर को पार करने में पूरे दो घंटे लगे। उत्तर की तरफ़ मौसम साफ़ था, लेकिन जब तक इसे पार किया, दक्षिण की तरफ़ से घने बादल आने लगे और चोटियों को

अपने आग़ोश में लेने लगे।

एक अपेक्षाकृत बड़ी झील के सामने हम कुछ देर बैठे। उस तरफ़ के किनारे पर कठोर बर्फ़ काफ़ी ऊँची थी। हिमखंड में एक दरार भी थी, जिससे लगता कि यह टुकड़ा टूटने ही वाला है। हम इसके टूटने की प्रतीक्षा में बैठे रहे। यह तो नहीं टूटा, लेकिन इसके ऊपर रखा कुंटलों वज़नी एक पत्थर जब नीचे पानी में गिरा तो इसके गिरने की प्रतिध्वनि बड़ी देर तक गूँजती रही।

जब इसे लगभग पार कर चुके, तो पगडंडी बड़े ही ख़तरनाक स्थान से गुज़र रही थी, सीधे खड़े पहाड़ के नीचे से। ऊपर से लगातार छोटे-छोटे पत्थर और मिट्टी का चूरा तो रह-रहकर गिर ही रहा था, बड़े पत्थर भी मौक़ा मिलते ही गिर पड़ते थे। यहाँ दीप्ति तो डरी ही, मुझे भी डर लगा। तय किया कि दोनों एक-एक करके इसे पार करेंगे। दोनों अगर साथ गए और ऊपर से कोई पत्थर गिरने लगा तो हड़बड़ी में दोनों को ही ख़तरा होगा। पहले दीप्ति पार हुई, फिर मैं। संयोगवश ऊपर से कुछ नहीं गिरा।

आख़िर में लगभग पचास मीटर की खड़ी 'दीवार' पर चढ़े और ऊपर चढ़कर घोषणा कर दी- 'ग्लेशियर पार हो गया।' हम चूँकि ग्लेशियर से ऊपर थे, इसलिए काफ़ी दूर तक दिखाई दे रहा था। मेरी आँखें यह देखकर फटी रह गईं कि दक्षिण की तरफ़ यानी हिमनद-मुख की तरफ़ झीलें बड़ी और ज़्यादा थीं। कई जगह प्रतीत होता कि दो और तीन झीलें मिलकर एक हो गई हैं। यह बड़ी ही ख़तरनाक स्थिति है। इसका अर्थ है कि मुख पर ग्लेशियर बहुत कमज़ोर है और किसी दिन एक भी झील टूट गई, तो नीचे के इलाक़ों में भारी तबाही मचा देगी।

यहाँ से थंगनाग दिख गया। रास्ता समतल ही दिख रहा था, लेकिन मामूली-सी उतराई थी। बीच में घास का मैदान था, याक चर रहे थे। एक व्यक्ति दौड़ लगा रहा था। पहले तो लगा कि ऐसे ही दौड़ रहा होगा, लेकिन ग़ौर किया तो कुछ अलग महसूस हुआ। पूछने पर पता चला कि 29 मई को बेसकैंप से नामचे तक मैराथन होनी है, वह उसके लिए तैयारी कर रहा है।

4700 मीटर की ऊँचाई पर हमारे लिए चलना मुश्किल हो रहा था और वह मज़े से दौड़ लगा रहा था। वह शेरपा था। इन्हें इतनी ही ऊँचाइयों पर अभ्यास करना होता है, इसलिए ये ही लोग इस मैराथन को जीतते हैं। दुनिया में किसी और को इतनी ऊँचाई पर अभ्यास करने की सहूलियत नहीं है। यदि है भी तो बेहद सीमित। ऐसा अभ्यास वहीं हो सकता है, जहाँ आपको नियमित रहना हो और आपका घर हो। हमारे यहाँ लद्दाख और लाहौल-स्पीति में भी इतनी ऊँचाई पर कहीं भी नियमित रहन-सहन नहीं है। यदि है भी तो कुछ ही स्थानों पर और वो भी सेना के लिए। ज़्यादातर सैनिक चूँकि मैदानी इलाक़ों के रहने वाले होते हैं, तो कितना भी अभ्यास कर लें, लेकिन ऊँचाइयों के नियमित निवासी होने का अभाव अवश्य प्रभावित करेगा।

जीतेंगे भई जीतेंगे, शेरपा ही मैराथन जीतेंगे।

पौने ग्यारह बजे थंगनाग पहुँचे। पूरे तीन घंटे लगे हमें गोक्यो से यहाँ तक आने में। भूख लगने लगी थी। यहाँ कुछ खाना ज़रूरी था। आगे बहुत दूर तक (चो-ला के पार ज़ोंगला

तक) कुछ भी नहीं मिलेगा। पहला जो होटल था, उसी में घुस गए। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अंदर से यह बेहद आलीशान था। डाइनिंग रूम में चारों दीवारों पर बड़े-बड़े पोस्टर लगे थे, नक़्शे लगे थे। हमने दो कप मिल्क कॉफ़ी और एक प्लेट आलू चिप्स का ऑर्डर दिया। फ़िलहाल दाल-भात नहीं थे, अन्यथा हम दाल-भात ले लेते।

निपटते-निपटते एक घंटे से ज़्यादा हो गया। बाहर निकले तो आगे की योजना पर पुनर्विचार करना पड़ा। हल्की-हल्की बर्फ़बारी हो रही थी। दीप्ति ने कहा, "निकलते हैं। कुछ नहीं होगा।"

मैंने मना किया, "नहीं, मैं ऐसे मौसम में चो-ला पार न करूँगा और न करने दूँगा। अभी भी समय है। हम अभी भी फुरचे के रास्ते जा सकते हैं। एक दिन ज़्यादा लगेगा, लेकिन सुरक्षित रहेंगे। ऐसे मौसम में हम नीचे फुरचे की तरफ़ तो चल सकते हैं, लेकिन चो-ला की तरफ़ नहीं।"

दीप्ति ने मना कर दिया, "नहीं, थोड़ी देर रुक जाते हैं। अगर मौसम ठीक होगा, तो चल पड़ेंगे। जाना तो चो-ला के रास्ते ही है।"

मैंने कहा, "तो अब थोड़ी देर नहीं, सुबह तक रुकते हैं। दोपहर हो गई है। पहले ही काफ़ी विलंब हो चुका है। ख़राब मौसम है। पता नहीं कब खुले? खुले भी या न खुले।"

दीप्ति ने भी तुरंत सहमति दे दी। लेकिन इस होटल में रुकने का मन नहीं किया। इसके बराबर में दूसरा होटल था, नाम याद नहीं। हाँ, याद आया। ताशी देलेक लॉज। इसमें सामान जा पटका। 200 रुपये का कमरा था, लेकिन एक बार कहते ही यह फ़्री हो गया। शर्त हमेशा ही तरह एक ही थी, डिनर हमारे यहाँ ही करना पड़ेगा।

अब तो ख़ूब समय था हमारे पास। 500 रुपये की गर्म पानी की एक बाल्टी मिली। दीप्ति नहा आई और कुछ कपड़े भी धो लिए।

शाम को मौसम साफ़ हो गया तो हम आसपास टहलने निकल पड़े। सीधे पहुँचे ग्लेशियर के किनारे। यहाँ से मुख के पास की बड़ी झीलें शानदार दिख रही थीं। कुछ फ़ोटो खींचे और लौट आए।

डाइनिंग रूम में एक विदेशी जोड़ा रजाई में बैठा था। लड़का मोबाइल में कुछ कर रहा था और लड़की एक किताब पढ़ रही थी। एक कोने में कई किताबें रखी थीं। दीप्ति ने भी एक किताब उठाई और पढ़ने लगी। पता नहीं उसने इसे कितना पढ़ा, लेकिन इतना पता है कि उसकी अँग्रेज़ी मुझसे भी गई-गुज़री है।

आज पिज़्ज़ा खाने का मन किया। दो पनीर पिज़्ज़ा मँगा लिए। लेकिन इन्हें किस तरह हलक़ से नीचे उतारा, बस हम ही जानते हैं। इस पिज़्ज़ा का जो एक फ़ोटो हमने खींचा था, उसे अब भी यदि देख लेते हैं तो दिनभर मन ख़राब रहता है। असल में सारी करामात याक के पनीर की थी। यह पनीर खट्टा भी था और थोड़ी-सी कड़वाहट भी लिए था। और 'पिज़्ज़ा-बेस' अभी हाथ के हाथ आटे से बनाया था, जो बासी रोटी जैसा स्वाद दे रहा था। जो थोड़ा-बहुत स्वाद था, वह सॉस के कारण था। शुरू में हमने 'तहज़ीब' दिखाते हुए छुरी और काँटे से खाना चाहा, लेकिन अभ्यास न होने के कारण और बेस्वाद होने के कारण जल्द ही अपने भारतीयपन पर आ गए। वे जो विदेशी कोने में बैठे हैं, जो सोचते हैं, सोचते

रहें। नेपाली तो उँगलियों से खाने में हमारे भी उस्ताद होते हैं।

अपने कमरे में आकर अपनी-अपनी रजाइयों में घुसकर वही वादा किया, जो हम रोज़ करते आ रहे थे। लेकिन आज चाँदनी चौक के पराठों के बजाय 'डोमिनोज़' के पिज़्ज़ा याद आए।

दोनों ने एक सुर में कहा, "दिल्ली जाकर पिज़्ज़ा मँगाएँगे घर पर ही। उन्हें कोल्ड-ड्रिंक से खाएँगे। तभी जाकर आज का स्वाद धूमिल पड़ेगा।"

और सोने से पहले 'आरती' सुनना नहीं भूले:

"घर आ जा परदेसी, तेरा देस बुलाये रे।"

अठारहवाँ दिन: थंगनाग से ज़ोंगला

26 मई 2016

आज सुबह जल्दी ही उठ गए। छ: बजे। आज हमारी इस ट्रैकिंग का सबसे मुश्किल दिन था। आज हमें चो-ला दर्रा पार करना था। इसकी ऊँचाई 5300 मीटर से ज़्यादा है और इतनी ऊँचाई पर किसी भी दर्रे को पार करना हमेशा ही बेहद मुश्किल होता है। कैसी मुश्किलें आती हैं, इसका दीप्ति को जरा भी भान नहीं था और मैं उसे समझाने में विफल रहा था। मेरे पास एक नक़्शे का फ़ोटो था, जिसमें इस इलाक़े के चप्पे-चप्पे की अच्छी जानकारी थी। इसमें लिखा था कि चो-ला से इधर 'रॉक फ़ालिंग' की संभावना है और उधर पार करने के बाद क्रेवास का ख़तरा है। क्रेवास अर्थात ग्लेशियर। साथ ही एक हिदायत भी लिखी थी- ग्लेशियर को बाईं तरफ़ से पार करें। पता नहीं 'बाईं तरफ़' इधर से उधर जाने वालों के लिए था या उधर-से-इधर आने वालों के लिए।

मन में भारी उथल-पुथल मची थी, चो-ला पार करें या न करें। खिड़की से बाहर झाँका तो हालात अच्छे नहीं थे। दीप्ति से कहा, "रात बर्फ़बारी हुई है। चो-ला रहने देते हैं। फुरचे की तरफ़ से ही चलने में समझदारी है।" वास्तव में बाहर चप्पे-चप्पे पर बर्फ़ थी। रात

तकरीबन दो इंच बर्फ़ गिरी थी। यह अच्छी तो लग रही थी, बेहद अच्छी और ख़ूबसूरत। लेकिन जैसे ही चो-ला का विचार मन में आता, तो डर भी लगने लगता।

अभी भी मौसम साफ़ नहीं था और अभी भी बर्फ़बारी हो सकती थी। सुबह के समय अक्सर मौसम साफ़ ही रहता है, लेकिन आज नहीं था। चारों ओर बादल थे और कुछ दूर से ज़्यादा नहीं दिख रहा था। 5300 मीटर ऊँचे किसी भी दर्रे को पार करने के लिए यह एकदम विपरीत परिस्थिति होती है। मन में बड़ी उथल-पुथल मची थी। अगर मैं साफ़ मना कर दूँ, तो दीप्ति को बुरा लगेगा और इसका असर अवश्य पड़ेगा। फिर हम तर्क-वितर्क करेंगे और हो सकता है कि दोनों एक-दूसरे से मुँह फुला लें।

हम सारा सामान पैक करके डाइनिंग रूम में पहुँचे। जब तक दो प्लेट 'पोटैटो चिप्स' आते, मैंने अपना निर्णय सुना दिया, "आज हम यहीं रुक जाते हैं। अगर मौसम साफ़ हुआ, तो कल यहाँ से चलेंगे।" मुझे लग रहा था कि आज तो मौसम साफ़ होने से रहा, कुछ ही देर में दीप्ति बोर हो जाएगी और फुरचे की तरफ़ चलने को राजी हो जाएगी।

लेकिन सारी योजना पर पानी फिर गया। जब होटल मालिक दोनों हाथों में दो प्लेटें गर्मागरम 'पोटैटो चिप्स' हमारे सामने रख रहा था, तो बोला, "थोड़ी देर पहले पाँच ट्रैकर्स चो-ला की तरफ़ गए हैं।"

वह तो कहकर कॉफ़ी लाने चला गया, लेकिन हतोत्साहित होती दीप्ति में उत्साह का संचार कर गया। अब मुझे भी लगा कि अगर हमसे डेढ़ घंटे पहले जा चुके लोग चो-ला पार कर लेंगे, तो हम भी कर लेंगे। वे लोग लौटेंगे, तो हम भी लौट आएँगे।

दो प्लेट 'पोटैटो चिप्स' बहुत ज़्यादा होते हैं। हमने एक प्लेट खाए और एक प्लेट साथ ले लिए। साथ ही दो बोतलें कोल्ड ड्रिंक की भी। इन्हें 'कोल्ड ड्रिंक' न कहकर 'एनर्जी ड्रिंक' कहना ज़्यादा उचित रहेगा।

साढ़े सात बजे हम चल दिए। चप्पे-चप्पे पर बर्फ़ थी। मुझे ट्रैकिंग में बर्फ़ अच्छी नहीं लगती, लेकिन अब तो बर्फ़ में ही चलना था, इसलिए जल्दी ही यह अच्छी भी लगने लगी। ताज़ी बर्फ़ थी, इसलिए झक सफ़ेद, नर्म और ख़ूबसूरत भी थी। छोटे-छोटे पत्थरों पर ऐसी लग रही थी, मानों पत्थरों ने ठंड से बचने को रुई की टोपियाँ ओढ़ ली हों।

थंगनाग 4650 मीटर की ऊँचाई पर है। आधे घंटे में ही हम 100 मीटर ऊपर आ गए। पीछे मुड़कर देखने पर थंगनाग काफ़ी नीचे दिखाई देता। उस तरफ़ नगोजुंपा ग्लेशियर का ढलान दिख रहा था। कल जब हम ग्लेशियर के ऊपर थे, तो यह हमें समतल ही लगा था, लेकिन अब दूर से देखने पर ढलानदार दिख रहा था। ग्लेशियर के उस तरफ़ एक नुकीली चोटी थी, नाम पता नहीं।

मौसम खुल गया और धूप निकल आई। धूप निकलने से जहाँ बर्फ़ीली घाटी की सुंदरता भी बढ़ी, वहीं मुझे भी सहारा मिला। लगा कि ऊपर वाले को हम दिख तो रहे होंगे। अब जो भी होगा, अच्छा ही होगा।

लाल चोंच वाला एक जोड़ा बर्फ़ में पक-पक-पक-पक करता हुआ नाश्ते का इंतज़ाम कर रहा था। हम कई दिनों से इनकी पक-पक सुनते आ रहे थे। इतना नज़दीक से आज देखा। कई तरह की आवाज़ें निकालता है। आप इनकी आवाज़ सुनने बैठो, तो सम्मोहित हो

जाओगे। हमारी उपस्थिति से ये ज़रा भी विचलित नहीं थे।

धूप निकलने से बर्फ़ कम ज़रूर हुई, लेकिन छोटा-बड़ा कोई भी पत्थर ख़ाली नहीं था। प्रत्येक पर बर्फ़ थी। हमें कंधों को आराम देना होता, तो पत्थर से बर्फ़ हटानी पड़ती, तब जाकर बैठ पाते।

जब लगने लगा कि अब हमारी आगे की ट्रैकिंग निर्बाध रूप से साफ़ मौसम में संपन्न होगी, तभी थंगनाग की तरफ़ से बादल आने लगे और इन्होंने कुछ ही मिनटों में सबकुछ ढक लिया। अभी साढ़े आठ ही बजे थे और हम 4860 मीटर तक ही आए थे। यहाँ से चो-ला साफ़ मौसम में भी नहीं दिख रहा था। अब तो क़तई नहीं दिखेगा।

बर्फ़ होने के बावजूद भी हमें रास्ता मिल रहा था। कारण था कि ठीकठाक पगडंडी बनी थी। फिर हमसे एक-डेढ़ घंटे पहले पाँच लोग यहाँ से गुज़रे थे, तो उनके पैरों के निशान भी मिल रहे थे। ऐसा ही चलता रहा, तो उत्तम होगा। लेकिन यदि मामूली-सी बर्फ़ भी पड़ गई, तो ये निशान मिट जाएँगे। क्या पता आगे दर्रे के पास कैसी पगडंडी हो? हो या न हो।

यूँ तो 5000 मीटर की ऊँचाई पर कोई भी वनस्पति नहीं होती, लेकिन यहाँ कुछ पौधे उपस्थित थे। इनमें रंग-बिरंगे फूल भी लगे थे, जो बर्फ़ के नीचे से बाहर झाँकने की कोशिश कर रहे थे। कुछ ने तो बर्फ़ के अंदर से अपना सिर बाहर निकालकर खुली हवा में साँस लेना आरंभ भी कर दिया था। कुछ अभी भी अपने ऊपर से बर्फ़ हटाने की सकाम-नाकाम कोशिश कर रहे थे। इन्हें देखकर उस समय तो कोई दार्शनिकता नहीं सूझी, लेकिन अब लिखते समय सूझ रही है। यदि उस समय दार्शनिकता सूझी होती, तब तो चो-ला हो-हा लिया था। हमें थंगनाग ही लौटना पड़ता।

इतनी ऊँचाई पर हमेशा ही साँस लेने में परेशानी होती है। लेकिन पिछले चार दिनों से हम 4000 मीटर से ऊपर थे और तीन दिनों से 4700 मीटर पर। परसों तो 5000 मीटर से भी ऊपर जा पहुँचे थे। इसका सकारात्मक प्रभाव हम पर पड़ा था। जितनी परेशानी होनी चाहिए थी, उतनी हो नहीं रही थी। लेकिन फिर भी हर दस-दस, पंद्रह-पंद्रह मिनट में बैग कंधों से उतारकर नीचे रखने पड़ते और स्वयं को आराम देना पड़ता।

साढ़े नौ बजे तक तेज़ हवाएँ चलने लगीं और चारों तरफ़ और घने बादल हो गए। ठंड लगने लगी, तो कुछ और कपड़े पहनने पड़े। कुछ देर एक पक्के कूड़ेदान के पास रुके। ऐसे कूड़ेदान पूरे एवरेस्ट ट्रैक में मिलते हैं। ये काफ़ी बड़े होते हैं और कंक्रीट के बने होते हैं। इनमें दो खिड़कियाँ होती हैं- एक धात्विक कचरे के लिए और दूसरी अधात्विक कचरे के लिए। यहाँ पहुँचे तो बड़े ज़ोर की ठंड लग रही थी। अगर खिड़कियाँ थोड़ी और बड़ी होतीं, तो हम इसमें घुस जाते।

सवा दस बजे 5100 मीटर तक पहुँच गए। यह स्वयं एक छोटा-सा दर्रा है। नाम तो अवश्य कुछ होगा, लेकिन हमें नहीं पता। एक ऊँचे डंडे पर एक झंडी लगी थी। उस तरफ़ ढलान था। बादलों के कारण ज़्यादा दूर तक दिखाई नहीं दे रहा था। दीप्ति ख़ुशी से झूम उठी, “आख़िरकार हम चो-ला पहुँच ही गए। यह तो बड़ा आसान है। कुछ भी मुश्किल नहीं आई। अब देख, नीचे ही उतरना है।”

मैंने कहा, “ख़ुश होने की ज़रूरत नहीं है। चो-ला 5300 मीटर से ऊपर है, जबकि अभी

हम 5100 मीटर पर ही आए हैं। अभी हमें 200 मीटर और चढ़ना है। सामने जो ढलान दिख रहा है, यह पता नहीं कितनी दूर तक है। जितना यह ढलान है, आगे हमें उतना ही और चढ़ना पड़ेगा।"

दीप्ति को निराशा तो हुई। आख़िर इतनी ऊँचाई पर चलना आसान नहीं होता।

यह ढलान हमें 100 मीटर नीचे ले गया। बड़ी निराशा हुई। हम कितना दम लगाकर 5100 मीटर तक पहुँचे थे! चो-ला 200 मीटर ऊपर रह गया था, लेकिन एक ही झटके में हम 5000 मीटर पर आ गए और चो-ला 300 मीटर ऊपर हो गया। एक-एक मीटर की ऊँचाई जहाँ आपके दमखम की कड़ी परीक्षा लेती है, वहाँ यह 100 मीटर का नुक़सान बहुत बड़ा नुक़सान था।

अब तो यह भी कहा जा सकता है कि ज़िंदगी भी ऐसी ही है। यहाँ एक-एक क़दम की सफलता बड़ी मेहनत से पाई जाती है, लेकिन गिरते हमेशा धड़ाम ही हैं। लेकिन उस समय हमारे मन में ऐसे 'अनमोल सुविचार' नहीं आ रहे थे। हम इस कैंपिंग ग्राउंड में अपना माथा पकड़े बड़ी देर तक बैठे रहे।

इसे 'चो-ला बेस' भी कहा जा सकता है। यह अच्छी कैंपिंग ग्राउंड है। पत्थरों की कुछ दीवारें भी बनी हैं, ताकि तेज़ हवाओं से टैंटों का बचाव हो सके। बहुत से ट्रैकर्स थंगनाग से चलकर यहाँ रात रुकते हैं और अगले दिन चो-ला पार करते हैं। लेकिन न हमारे पास टैंट था और न ही हमें यहाँ रुकना था। टैंट होता, तो शायद रुकने का मन बन भी जाता। ठंडी हवाएँ हड्डियों तक को कँपा रही थीं। रही-सही कसर बर्फ़बारी ने पूरी कर दी। हल्की-हल्की बर्फ़ गिरने लगी। बर्फ़ देखकर हमेशा चहकने वाली दीप्ति के चेहरे पर यहाँ पहली बार चिंता की लकीरें देखीं। बोली, "काश! चो-ला न आने की तेरी बात मान लेती।" उस समय हल्की बर्फ़बारी हो रही थी और हमें बीस-तीस मीटर से आगे नहीं दिख रहा था, मैंने अंदाज़े से कहा, "अभी तक तो हमने 'केक-वॉक' किया है। असली चढ़ाई तो अब शुरू होगी।"

असल में मैं चाह रहा था कि एक बार ज़ोरदार चढ़ाई आए और हम हाँफते-हूँफते चढ़ भी जाएँगे, लेकिन फिर चो-ला की चढ़ाई से हमेशा के लिए पीछा छूट जाएगा। जितनी जल्दी पीछा छूटे, उतना अच्छा। हल्की चढ़ाई होगी, तो ज़्यादा समय लगेगा। तेज़ चढ़ाई होगी, तो कम समय लगेगा। और वास्तव में यहाँ से आगे तेज़ चढ़ाई ही थी।

थोड़ी देर के लिए थोड़े-से बादल इधर-उधर हो गए और हमें सामने बिल्कुल सिर के लगभग ऊपर तीन चोटियाँ दिखाई पड़ी। इनके बीच में दो दर्रों जैसी आकृतियाँ भी दिखीं। इनमें से एक चो-ला है। इसे देखना भर ही सिहरन पैदा कर रहा था। यह एक 'रॉक-फ़ाल ज़ोन' था, जहाँ खड़े ढाल पर आपको ढीले पत्थरों पर चढ़ना होगा और कभी भी कोई भी पत्थर आपके चलने से या अपने-आप भी नीचे गिर सकता था। अभी तक हम बादलों की उपस्थिति को कोस रहे थे। अब ख़ुश हुए कि बादल रहें, तो अच्छा हो। हमें यह 'रॉक-फ़ाल ज़ोन' दूर तक नहीं दिखेगा और सिहरन व डर भी कम लगेगा। हमारा यह विचार ऊपर वाले ने सुन लिया और अगले एक मिनट में फिर से सबकुछ ढक गया।

ऊपर से कुछ ट्रैकर्स इधर आ रहे थे। गिनती में पाँच थे। पहले तो हमने सोचा कि ये हमसे

डेढ़ घंटे पहले थंगनाग से निकले हुए ट्रैकर्स हैं, जो चो-ला पार नहीं कर सके। ये लोग नहीं जा सके, तो इसका अर्थ है कि आगे बहुत ज़्यादा ख़तरा है। हम दोनों में मूक सहमति हो गई कि इनके साथ हम भी वापस हो लेते हैं। लेकिन पास आए, बातचीत हुई तो पता चला कि ये आज सुबह अँधेरे में उधर ज़ोंगला से चले थे। इनके साथ कोई भी गाइड नहीं था। हमसे पूछा कि क्या यही रास्ता थंगनाग जाता है। हमने उनसे कुछ नहीं पूछा। पूछते भी क्या? कि चो-ला कितना दूर है? वो तो हमें भी पता था कि 5300 मीटर तक तो चढ़ना ही है और अभी हम 5100 मीटर तक ही आए थे।

चूँकि रास्ता अब 'रॉक-फ़ाल ज़ोन' से होकर जा रहा था, इसलिए बड़े-बड़े पत्थरों से होकर निकलना पड़ता। इन पर दो-दो इंच तक बर्फ़ जमी थी, इसलिए एक पत्थर से दूसरे पर पैर रखने में फिसलने का डर होता। लेकिन थोड़ा ही चलकर यह डर काफ़ी कम हो गया। क्योंकि बर्फ़ ताज़ी थी, इसलिए पैर वहीं जम जाता। ताज़ी बर्फ़ पर फिसलने का डर कम होता है।

हमें भूख लगने लगी थी। लेकिन कहीं भी बैठने की जगह नहीं मिली। तूफ़ानी हवा चल रही थी, बर्फ़बारी हो रही थी और ठंड चरम पर थी। हमें किसी गुफा जैसी जगह की तलाश थी। बड़ी दूर चलकर 5120 मीटर की ऊँचाई पर ऐसी एक गुफा मिली। एक बहुत बड़ी चट्टान किसी ज़माने में पहाड़ से टूटकर गिर गई थी। इससे छोटी-सी गुफा निर्मित हो गई थी। थंगनाग से लाए आलू चिप्स और कोल्ड ड्रिंक निबटाए। भूख भी समाप्त हुई और आगे चलने की ताक़त भी मिली। यहाँ हवा और बर्फ़ से बचाव तो बख़ूबी हुआ, लेकिन पत्थर अत्यधिक ठंडे थे। एक तो इन पर बैठने से और दूसरे रुक जाने से भयंकर ठंड लगनी शुरू हो गई। हम कुछ देर और रुकना चाहते थे, लेकिन चलते रहने में ही बचाव था, इसलिए बीस-पच्चीस मिनट से ज़्यादा नहीं रुके।

चारों तरफ़ सफ़ेद बर्फ़ और घने बादल; इनके कारण दृश्यता बेहद कम हो गई थी। हल्की बर्फ़बारी भी हो रही थी, जिसके कारण पगडंडी मिलने में परेशानी हो रही थी। अभी तक इस कार्य को दीप्ति ही कर रही थी, लेकिन लगभग 5200 मीटर पर उसने हाथ खड़े कर दिए। बाईं ओर ढलान बहुत ज़्यादा था। चारों तरफ़ सबकुछ सफ़ेद होने के कारण मतिभ्रम की स्थिति हो गई थी और वह समतल और असमतल में अंतर नहीं कर पा रही थी। यह अच्छा ही रहा कि उसने समय रहते कह दिया, "अब मुझे रास्ता नहीं मिल रहा है। तू आगे-आगे चल।" मैं आगे चला, लेकिन चूँकि आज सुबह से ही मैं दीप्ति के पीछे था और गर्दन झुकाकर केवल उतना ही आगे देख रहा था कि दीप्ति के जूते दिखते रहें। इसलिए अब ऐसी चरम परिस्थिति में अचानक आगे चलने में दिक़्क़त होने लगी। हालाँकि रास्ता तो मिलता रहा। हमसे आगे गए दल के निशान ताज़ी बर्फ़ के नीचे दब चुके थे, लेकिन कुछ देर पहले जो दल विपरीत दिशा से आया था, उनके निशान बाक़ी थे।

आख़िर 100 मीटर कड़ी परीक्षा के थे। अब पत्थरों पर 'आइस' यानी हिम की कठोर परत मिलने लगी। इस कठोर परत के ऊपर ताज़ी नरम बर्फ़ थी, जो पैर रखते ही सरक जाती और पैर हिम पर रखा जाता और फिसल जाता। खड़ी चढ़ाई थी तो कई बार हाथों का भी सहारा लेना पड़ता। कई बार 'ट्रैकिंग पोल' से यह कठोर बर्फ़ खोदनी पड़ती। एक

चट्टान से दूसरी चट्टान पर चढ़ते और बड़ी देर तक साँसों को क़ाबू करते। मेरा हिम-भय जगज़ाहिर है। 5250 मीटर तक पहुँचते-पहुँचते मैं पत्थरों पर जमी कठोर हिम के आगे हिम्मत हार गया और एक ऐसी ही चट्टान पर बैठ गया। पीछे-पीछे चल रही दीप्ति भी पस्त थी। मैंने बिना कुछ कहे आँखों-ही-आँखों में कहा, "मैं इसीलिए इधर नहीं आना चाहता था।" दीप्ति ने उत्तर दिया, "यहाँ से सही-सलामत निकल जाएँ। फिर कभी भी ऐसी ज़िद नहीं करूँगी। मुझे नहीं पता था कि ऐसा भी होता है।"

दीप्ति फिर मुझसे आगे हो गई। वह हिम में मेरे मुक़ाबले ज़्यादा सहज थी। ट्रैकिंग पोल से हिम खोदती, पहले स्वयं चढ़ती और फिर मुझसे कहती, "वहाँ पैर रखना। मैंने बर्फ़ काट दी है।" और मैं वहीं पैर रखता। इसी तरह हाँफते-हाँफते, एक-दूसरे को सहारा देते हम चलते रहे। मेरी निगाहें लगातार जी.पी.एस. पर थीं। 5270 मीटर, 5280 मीटर, 5290 मीटर और ये लो, 5300 मीटर। अचानक दीप्ति की आह्लादित चीख सुनाई पड़ी-

"हम चो-ला पहुँच गए।"

चो-ला की ऊँचाई समुद्र तल से 5320 मीटर है। दोपहर के एक बजकर पचास मिनट हो गए थे।

सामान पटक दिया और दर्रे पर पसर गए। मन में एक सुकून था कि कम-से-कम चढ़ाई तो ख़त्म हुई। लेकिन इससे भी बड़ी मुसीबत मुँह बाए सामने खड़ी थी, नीचे उतरने की।

चो-ला एक तंग दर्रा है। आप ऊपर चढ़ते हैं और अगले ही क़दम से नीचे उतरने लगते हैं। कई बार दर्रों के दोनों तरफ़ बर्फ़ व हिम की मात्रा में काफ़ी अंतर होता है, लेकिन घने बादल होने के कारण हमें दूसरी तरफ़ कुछ भी नहीं दिख रहा था। नीचे उतरता ख़तरनाक ढाल ज़रूर दिख रहा था, लेकिन इसका अंत कहाँ है, कुछ नहीं पता चल रहा था।

आज तक हम दोनों में से किसी ने भी इतनी ऊँचाई तक ट्रैकिंग नहीं की थी। परसों ज़रूर 5315 मीटर ऊँची गोक्यो-री तक पहुँचे थे, आज उससे भी पाँच मीटर ऊपर आ गए। दीप्ति हैरान थी कि गोक्यो-री पर नाममात्र भी बर्फ़ नहीं थी, लेकिन यहाँ कच्ची बर्फ़ भी है और कठोर हिम भी-

"मुझे लगा था कि गोक्यो-री जैसा ही माहौल होगा और हमें कहीं भी बर्फ़ नहीं मिलेगी।"

"हाँ, मुझे पता था कि हालात गोक्यो-री के मुक़ाबले बहुत कठिन होंगे; लेकिन इतने कठिन होंगे, यह मैंने भी नहीं सोचा था।"

नीचे उतरती एक पगडंडी दिख रही थी, जो थोड़ा नीचे जाकर उत्तर दिशा की ओर मुड़ रही थी। पूर्व में छोटी-सी एक झील थी, जो आंशिक तौर पर जमी हुई थी। झील के उस पार बर्फ़ थी और फिर बादल थे। दक्षिण की ओर जाती कोई पगडंडी, कोई निशान, कुछ नहीं था। मुझे जानकारी थी कि हमें चो-ला से उतरकर दक्षिण में जाना है, इसलिए मेरी निगाहें दक्षिण की ओर जाती किसी पगडंडी को खोज रही थीं, लेकिन कोई नहीं मिली। इसके लिए मैं दर्रे पर ही ऊपर-ही-ऊपर 20-30 मीटर दक्षिण में भी गया, लेकिन किसी पगडंडी का कोई सुराग़ नहीं मिला।

अब एक ही चारा था- हम उत्तर की ओर जाती पगडंडी पर ही चलें। शुरू-शुरू में बड़ा खड़ा ढाल है, उतरने में बड़ी मुश्किल आई। नीचे उतरे, झील के किनारे पहुँचे तो कुछ और आगे का नज़ारा दिखने लगा। पगडंडी झील का चक्कर लगाती हुई पहले पूर्व दिशा में घूमी, फिर दक्षिण में घूम गई। हम निश्चिंत हो गए।

लेकिन अब एक नयी मुसीबत सामने आ गई, जिसका सामना इस समय हम नहीं करना चाहते थे। यह एक ग्लेशियर था और झील ग्लेशियर के ऊपर ही बनी थी। ताज़ा बर्फ़बारी हो जाने से और घने बादल होने से चारों तरफ़ सबकुछ सफ़ेद ही दिख रहा था। हम दोनों की साँसें तब यकायक रुक गईं, जब एक 'क्रेवास' पार किया। फिर तो 'क्रेवास' मिलते रहे। पैरों के नीचे कठोर बर्फ़ और बार-बार आते 'क्रेवास'। लेकिन गनीमत थी कि अच्छी पगडंडी थी और बर्फ़बारी होने के बावजूद भी रास्ता भटकने की संभावना नहीं थी। कई बार तो 'क्रेवास' के अंदर ही बड़ी दूर तक चलना पड़ता। डरावना तो था, लेकिन सभी लोग यहीं से जाते हैं, इसलिए डर कम होता गया। मुसीबत तब होती, जब क्रेवास में नालीनुमा पगडंडी पर पानी भरा मिलता। हम इस पानी से बचने को बर्फ़ पर इधर-उधर पैर रखते, लेकिन पैर फिसलकर पानी के बीचोंबीच जा पड़ता। जूतों में पानी भर गया। पैर अत्यधिक ठंडे हो गए, लेकिन यहाँ हम रुक नहीं सकते थे।

जब आधे घंटे बाद भी ग्लेशियर के खत्म होने की कोई संभावना नहीं दिखी, तो हम रुक गए। दीप्ति नहीं रुकना चाहती थी और वह बहुत घबराई हुई थी। उसने कहा- "ग्लेशियर समाप्त होने के बाद ही रुकेंगे।"

मैंने उत्तर दिया- "कुछ फ़ोटो तो बनते हैं।"

"यहाँ जान के लाले पड़े हुए हैं। हम ग्लेशियर पर 'क्रेवासों' के बीच में हैं और तुझे फ़ोटो की सूझ रही है?"

"हाँ, घबराहट तो मुझे भी हो रही है, लेकिन यहाँ के कुछ फ़ोटो तो खींचने ही पड़ेंगे।"

फोटो खींचे। इस काम में दस्ताने उतारने पड़े और चार फ़ोटो खींचने में ही उंगलियों की ठंड से बुरी हालत हो गई।

चो-ला से चलने के पूरे एक घंटे बाद ग्लेशियर समाप्त हुआ और हमें एक गुफा मिली। थोड़ी देर कंधों का बोझ नीचे रखकर इन्हें आराम दिया। सामने ग्लेशियर का काफ़ी नीचे तक विस्तार दिख रहा था। तभी हमारी निगाहें गईं नीली हिम पर। इसमें नीलिमा क्यों थी, पक्का तो नहीं पता, लेकिन हमें लगता है कि यह कठोरतम हिम रही होगी। इसने हमें सम्मोहित कर लिया और हम इससे निगाहें नहीं हटा सके। वाक़ई कितना बड़ा ग्लेशियर था यह! इसका नाम हमें नहीं पता। अभी तक हमने ग्लेशियरों के निचले हिस्से ही देखे थे, जहाँ हिम और मिट्टी-चट्टानें एक-दूसरे में गुँथी रहती हैं। लेकिन निहायत साफ़-सुथरे ग्लेशियर को देखने का यह पहला मौक़ा था। इस पर मिट्टी का और पत्थरों का नामो-निशान तक नहीं था। विशुद्ध बर्फ़-कठोर हिम। ऐसे में ही कुछ होता होगा कि बर्फ़ में नीलिमा भी दिखने लगती है।

यह गुफा लगभग 5250 मीटर की ऊँचाई पर है। शाम के तीन बज चुके थे। यहाँ हम बड़े ख़ुश थे कि अब हमें ग्लेशियर पर नहीं चलना है। लेकिन गुफा से बाहर निकलते ही, कुछ

दूर चलते ही सारी ख़ुशी काफ़ूर हो गई। अब हम आपस में कहने लगे- इससे अच्छा तो ग्लेशियर ही था।

असल में अब खड़ा ढलान आरंभ हो गया था। ग्लेशियर पर उतना ढलान नहीं था, लेकिन अब जानलेवा ढलान था- 'रॉक-फ़ाल जोन' था। बड़े-बड़े गोल पत्थरों से होकर रास्ता था और सभी पत्थरों पर एक-एक, दो-दो इंच मोटी कठोर बर्फ़ जमी थी। इन पर पैर रखते ही फिसल जाते। संतुलन बनाना बेहद मुश्किल हो रहा था। यहाँ हमें अपने सारे पूर्वज, सारे देवता, सारे सत्कर्म याद आ गए। पता नहीं कितनी मन्नतें माँगी। क्योंकि बादलों के कारण बीस-तीस मीटर से नीचे कुछ भी नहीं दिख रहा था, इसलिए पता भी नहीं चल रहा था कि ऐसा कितनी दूर तक है। कई बार धोखा भी हो जाता। कहीं पर पानी की पतली जलधारा बहती दिखती। हम सोचते कि हिम पर चलने से अच्छा है कि पानी में चलें। पहला क़दम रखते ही धोखा नज़र आता। पानी के ऊपर भी हिम की परत थी।

यदि मौसम साफ़ होता, तो हमें दिख जाता कि इस ख़तरनाक रास्ते पर कितनी दूर तक चलना है। तसल्ली रहती। लेकिन अब तो कुछ भी पता नहीं चल रहा था। दस मिनट भी एक घंटे के समान लगती। पचास मिनट लगे इसे पार करने में। जब पहली बार चट्टानों से उतरकर मिट्टी पर पैर रखा, तो लगा जैसे विश्वयुद्ध जीत लिया हो। पीछे मुड़कर देखा तो यक़ीन नहीं हुआ कि हम यहीं से होकर आए हैं। अब हम 5120 मीटर की ऊँचाई पर थे। हालाँकि आगे अभी भी ऐसे ही ख़तरनाक रास्ते की संभावना अवश्य थी, लेकिन हम इस पल का एहसास कभी नहीं भूल सकते। जंगल में आप अकेले हों, आपके पीछे चार-पाँच तेंदुए दौड़ रहे हों, आपकी जान पर पड़ी हो और आप ज़िंदा बच गए, तो आपको जो एहसास होगा, उससे ज़्यादा सुखद एहसास इस समय हमें हो रहा था।

पास में कंक्रीट का बना एक कूड़ेदान था। इसकी वर्तुलाकार छत से बर्फ़ धीरे-धीरे फिसल रही थी और एक फुट से ज़्यादा लटकी थी। ठंड में कोई कमी नहीं आई थी। दस्ताने उतारकर बड़ी मुश्किल से तीन-चार फ़ोटो खींच सके।

इसके बाद ग्लेशियर या जमी हुई बर्फ़ नहीं मिली। अच्छी पगडंडी बनी हुई थी। हम चलते रहे। रास्ता ढलान का था, हालाँकि अब ढलान काफ़ी कम हो गया था। धीरे-धीरे यह ढलान कम होता-होता लगभग समतल भूमि में बदल गया। अब हमें इंतज़ार था ज़ोंगला का। नक़्शे के अनुसार ज़ोंगला 4830 मीटर की ऊँचाई पर था। जब हम 4900 मीटर से नीचे आ चुके हमें बेसब्री से ज़ोंगला की प्रतीक्षा होने लगी। लेकिन ज़ोंगला ने हमारे सब्र की कड़ी परीक्षा ली। हर मोड़ पर लगता कि अब ज़ोंगला दिखेगा, लेकिन यह नहीं दिखा। ठीक वैसा ही, जैसा कुछ दिन पहले डोले पहुँचने में हो रहा था। एक बार मन में यह भी आता कि क्या पता पहले कभी ज़ोंगला में कोई होटल होता हो, लेकिन अब न हो। बड़ी निराशा हुई। अब हमें तीन घंटे और आगे थुकला तक जाना पड़ेगा। हम इसके लिए बिल्कुल भी तैयार नहीं थे, लेकिन अगर ऐसा हुआ तो हमें इतना चलना पड़ेगा। कई बार भ्रमवश मिट्टी के तेल के चलने की गंध आती। लगता कि ज़ोंगला आसपास ही है। हम इधर-उधर देखते, ऊपर देखते, नीचे देखते; लेकिन ज़ोंगला नहीं आया।

पौने छः बजे हमारी ख़ुशी का ठिकाना नहीं रहा। सामने कुछ होटल दिखे। निःसंदेह यह

ज़ोंगला ही था। चो-ला ने तो थकाया ही, ज़ोंगला ने भी थकाने में कसर नहीं छोड़ी। पहली नज़र पड़ते ही हम वहीं बैठ गए। चलने की ताक़त समाप्त हो चुकी थी। काश! कोई आकर हमें उठाकर ले जाता।

होटल का मालिक एक बूढ़ा आदमी था। उसने हमें डाइनिंग रूम से ही आते हुए देख लिया था। दरवाजे पर मुस्कुराता हुआ मिला।

"कमरा है?"

"हाँ है।"

"कितने का है?"

"300 का।"

"फ्री दे दो।"

"ठीक है। लेकिन किसी और को मत बताना। मैंने इन्हें 500 का दिया है।"

डाइनिंग रूम में कुछ विदेशी बैठे थे। ये वही लोग थे, जो थंगनाग से हमसे डेढ़ घंटे पहले चले थे। इनके साथ एक गाइड भी था। लेकिन यह गाइड शेरपा नहीं था, बल्कि गोरखा था। ज़ाहिर है कि ये किसी कंपनी के माध्यम से ट्रैक बुक करके आए हैं। गोरखा की हिंदी बहुत अच्छी थी। वह पहले भारतीय सेना में था। वहाँ से रिटायर होकर अब ट्रैकिंग कराता है। नेपाल के अलावा लद्दाख में भी यह ग्रुप लेकर जाता है। जुलाई में वह एक ग्रुप मारखा घाटी ले जाएगा।

खुंबू के इस सुदूर इलाक़े में स्वदेश के लद्दाख की बातें करना कितना अच्छा लग रहा था!

कल थंगनाग में हमने पिज़्ज़ा लिया था, जो बेहद ख़राब था। आज हमने कोई प्रयोग नहीं किया और दो प्लेट दाल-भात ले लिए। 700 रुपये की एक प्लेट थी।

सोते समय तक भी हमारी साँसें सामान्य नहीं हुई थीं। थकान पूरे शरीर पर हावी थी। दीप्ति ने कहा, "सॉरी बाबू, मुझे चो-ला न आने की तेरी बात मान लेनी चाहिए थी। आज वास्तव में हम बहुत बड़ी मुसीबत में थे।"

"नहीं, कोई बात नहीं। यह अनुभव भी बहुत ज़रूरी था। अगर हम इधर न आते, तो तुझे कभी पता नहीं चलता कि ऐसे दर्रों पर क्या होता है। यह तेरे लिए एकदम नया अनुभव था और मेरे लिए भी। जो भी हुआ, अच्छा हुआ।"

आँख बंद करते चट्टानों पर जमी बर्फ़ ही दिखती। सपने भी इसी के आए। कई बार लगता कि मैं बर्फ़ पर नीचे उतर रहा हूँ और अचानक पैर फिसल गया। पूरा शरीर हिल जाता और आँख खुल जाती।

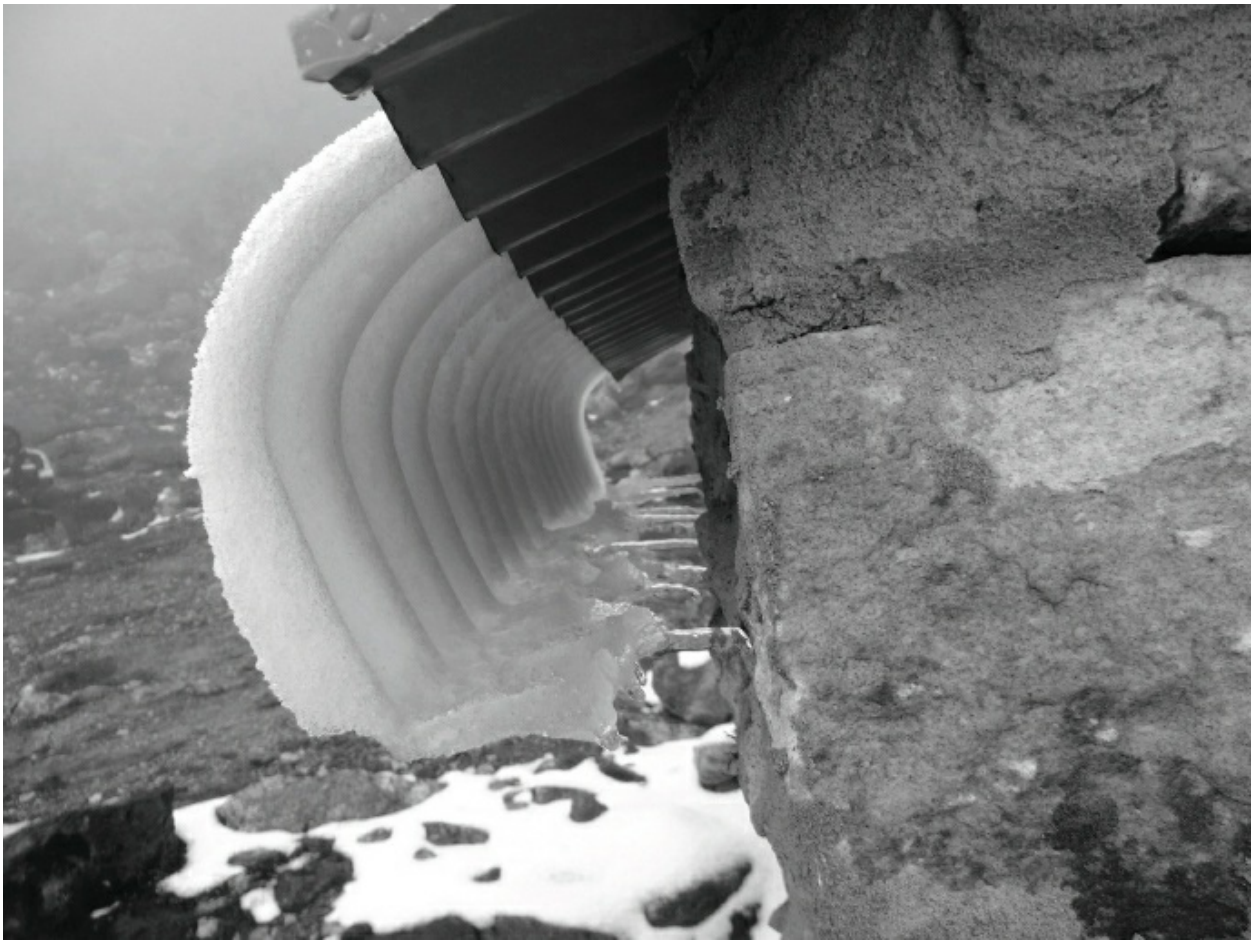

उन्नीसवाँ दिन: ज़ोंगला से गोरकक्षेप

27 मई 2016

सुबह साढ़े छः बजे के आसपास आँख खुली। बाहर निकले तो नज़ारा मंत्रमुग्ध कर देने वाला था। हो भी क्यों ना? हम 4800 मीटर की ऊँचाई पर थे और आसमान में बादलों का नाम भी नहीं था। दो चोटियों ने सारी महफ़िल अपने नाम कर रखी थी। एक तो यहीं बराबर में थी, चोला-चे। इसे चोलात्से भी लिख देते हैं, लेकिन कहते चोला-चे ही हैं। 6300 मीटर से ज़्यादा ऊँची यह चोटी बर्फ़ से लकदक थी। यह हमसे केवल इतनी दूर ही थी कि लगता कि हम तबियत से पत्थर फेकेंगे तो उसके ऊपर से होता हुआ परली पार जा गिरेगा।

चोला-चे से बमुश्किल निगाह हटी तो बाएँ दूर जो चोटी दिखी, उसने मुझे अब तक मुग्ध कर रखा है। इसने मुझे वास्तव में सम्मोहित कर रखा है। मैं इस पुस्तक का नाम इसी चोटी के नाम पर रखने का विचार भी कर चुका था। यह है आमा डबलम।

या तो गंगोत्री के पास तपोवन के बराबर में शिवलिंग चोटी ने मुझे इतना सम्मोहित किया था, या फिर आज आमा डबलम ने किया। ये आगे-पीछे दो चोटियाँ हैं। आगे वाली

कुछ छोटी है और पीछे वाली ज़्यादा ऊँची है। ऐसा लगता कि आमा ने (अम्मा ने) अपनी बेटी को गोद में बैठा रखा हो। आमा डबलम का मतलब क्या होता है? किसी ने कहा, अम्मा का आभूषण, तो किसी ने कहा, डबल अम्मा यानी दो माताएँ। मतलब कुछ भी हो, आमा डबलम ही एवरेस्ट क्षेत्र का आभूषण है।

आमा डबलम के दाहिने और भी दूर एक चोटी और दिख रही थी। लोगों ने बताया वो थमसेरकू है। लेकिन मुझे ऐसा नहीं लगता। वो है तो थमसेरकू परिवार की ही कोई चोटी, लेकिन असली थमसेरकू चोला-चे के पीछे छुपी हुई है। इसने भी पूरी तरह बर्फ़ीली चादर ओढ़ी हुई थी और अच्छी लग रही थी।

उत्तर में देखने पर वो ग्लेशियर भी दिख रहा था, जिससे होकर कल हम आए थे। हालाँकि यहाँ से चो-ला तो नहीं दिख रहा था, लेकिन यह ग्लेशियर झक सफ़ेद बड़ा ही ख़तरनाक लग रहा था।

केवल चाय और बिस्कुट खाकर ठीक आठ बजे हम यहाँ से चल दिए। हमारे साथ-साथ और भी ट्रैकर्स चल रहे थे। एक शेरपा गाइड एक चीनी ट्रैकर को ले जा रहा था। चीनी की हालत बहुत ख़राब थी। उसके पास समय की कोई कमी नहीं थी। कमाल की बात यह रही कि उसने परसों चो-ला तो पार कर लिया था, लेकिन अभी तक वह सामान्य नहीं हो पाया था। ऊँचाई का उस पर बहुत बुरा असर पड़ रहा था। वह भी बेसकैंप तक जाना चाहता था, लेकिन आज उन्हें लोबुचे या गोरकक्षेप तक जाना था। मैंने गाइड को सलाह दी कि इसकी हालत अच्छी नहीं है। इसे लोबुचे न ले जाकर थुकला ले जाओ। एक-दो दिन थुकला में बैठो। तब ऊपर जाना। और गाइड ने मेरी बात मान ली। अगले दिन जब हम वापस लौट रहे थे, तो वे हमें थुकला से लोबुचे जाते हुए मिले थे।

डेढ़ घंटे में हम उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ से दो पगडंडियाँ अलग हो रही थीं। नीचे वाली थुकला जा रही थी और ऊपर वाली बेसकैंप। थुकला नीचे घाटी में दिख भी रहा था। हमें नीचे नहीं जाना था, इसलिए ऊपर वाली पर चलते रहे। दाहिने चोला-चे से उतरता एक ग्लेशियर भी था। नीचे इसके पानी से एक छोटी-सी झील निर्मित हो गई थी।

सामने आमा डबलम थी ही। एवरेस्ट भी दिख जाती, यदि बीच में नुपसे न होती। थोड़ा और आगे बड़े तो पुमो-री भी दिख गई। इसे तो देखते ही मैं पहचान गया। यात्रा से पहले ही इसके फ़ोटो देखे थे। 7100 मीटर से ज़्यादा ऊँची इस चोटी की विशिष्ट आकृति से इसकी पहचान आसान हो जाती है।

आपके चारों तरफ़ इतनी चोटियाँ हों- चोला-चे, आमा डबलम, थमसेरकू, पुमो-री, नुपसे। तो आपको क्यों अच्छा नहीं लगेगा? धूप बहुत तेज़ थी, इसके बावजूद भी आज हमें थकान नहीं हो रही थी। थकान हो भी रही होगी, तो भी हम इसे पूरी तरह नज़रअंदाज़ कर रहे थे। कब ऐसा मौसम मिलता है? इस ट्रैक में शायद यह दूसरा या तीसरा दिन है, जब हमें साफ़ मौसम मिला हो। अन्यथा सुबह से ही बादल हो जाते।

लोबुचे से कुछ पहले हम एवरेस्ट के मुख्य ट्रैक पर पहुँच गए। अभी तक हम गोक्यो से एवरेस्ट के ट्रैक पर थे। मुख्य ट्रैक नामचे बाज़ार से तेंगबोचे, डिंगबोचे, थुकला होता हुआ आता है। अब हमें चहल-पहल भी मिलने लगी।

लोबुचे तक चढ़ाई नहीं है, लेकिन ख़ाली पेट वहाँ तक पहुँचना मुश्किल हो गया। धूप ने भी अपना असर दिखाया। आलस हावी होने लगा।

सवा ग्यारह बजे लोबुचे पहुँचे। ज़ोंगला और लोबुचे के बीच में कहीं भी रुकने-खाने की सुविधा नहीं है। यहाँ अच्छी बसावट है और कई होटल हैं। हम एक होटल में जा घुसे। ज़ोर की भूख लगी थी। दाल-भात ही उपलब्ध हो सकते थे, इसलिए 700 रुपये प्रति प्लेट की दर से दो प्लेट दाल- भात ले लिए। कैमरे की दोनों बैटरियाँ समाप्त हो गई थीं। एक घंटा चार्जिंग का शुल्क 300 रुपये था। यहाँ बिजली नहीं है, लेकिन सोलर पैनल से काम चल जाता है। एक घंटे तक कैमरा चार्जिंग पर लगाए रखा। निकाला तो अगले तीन दिनों तक के लिए पर्याप्त चार्ज हो गया।

ऐसे ऊँचे स्थानों पर धूप में ट्रैकिंग करने का एक यही नुक़सान है कि जबरदस्त आलस आता है और कहीं पड़कर सो जाने का मन करता है। अल्ट्रा-वायलेट किरणों की ज़्यादा सघनता होने के कारण त्वचा भी चलती है और आँखों को भी नुक़सान पहुँचता है। हमने हालाँकि काले चश्मे लगा रखे थे, लेकिन फिर भी हमारी आँखों को थोड़ा नुक़सान पहुँचा। जलन होने लगी और इसके कारण सिरदर्द भी। भरपेट दाल-भात खा लेने के बाद नींद आना लाज़िमी था। इस ट्रैक की यही बात मुझे अच्छी लगती है कि आप डाइनिंग रूम में भले ही पूरे दिन पड़े रहो, आपको कोई जाने को नहीं कहेगा। आप उठो, बैठो या सोओ। हम भी जूते उतारकर गद्दे-नुमा सोफ़े पर पड़कर सो गए। पूरे एक घंटे बाद उठे। ताज़गी महसूस हुई।

यहाँ एक चार्ट लगा था, जिसमें लिखा था कि कितनी ऊँचाई पर वातावरण में कितनी हवा होती है। समुद्र तल पर यह 100% होती है, तो 5000 मीटर पर 53%। यानी अभी हम 53% वाले स्थान पर थे। इसका अर्थ हुआ कि सामान्यत: एक साँस में हम जितनी हवा लेते हैं, अब उसकी आधी हवा ले पा रहे थे। 8848 मीटर यानी एवरेस्ट की चोटी पर यह 33% रह जाती है।

एक बजे यहाँ से चल दिए। चढ़ाई नगण्य थी, लेकिन धूप और 5000 मीटर की ऊँचाई के कारण चलना मुश्किल हो रहा था। याकों के समूह के समूह मिलते, जो ज़्यादातर बेसकैंप से पर्वतारोहियों का सामान लेकर लौट रहे थे। बहुत से शेरपा भी भारी बोझ उठाए आते-जाते मिल रहे थे। इनमें महिलाएँ भी काफ़ी थीं। सामान ढोने से इन्हें अच्छी आमदनी हो जाती है।

हमारे दाहिनी ओर खुंबू ग्लेशियर था। खुंबू के उस तरफ़ बहुत सारे छोटे-छोटे ग्लेशियर लटके हुए दिख रहे थे। खुंबू यहाँ अपनी समाप्ति की ओर है, इसलिए इसमें बर्फ़ के साथ मिट्टी और पत्थर भी ख़ूब हैं, जिससे यह मटमैला दिखता है। ऊपर लटके ग्लेशियर साफ़-सुथरे झक सफ़ेद थे। उत्तर दिशा में खुंबू में और भी ग्लेशियर मिलते हुए दिख रहे थे। इन्हीं में सबसे आख़िर में खुंबू आइसफ़ॉल है, जिससे होकर पर्वतारोही एवरेस्ट पर जाते हैं।

हमें भी एक ग्लेशियर पार करना पड़ा। हमारे पास उपलब्ध नक़्शे के अनुसार इसका नाम चांगरी ग्लेशियर था। इधर ही कहीं 6027 मीटर ऊँची चांगरी चोटी है और 5800 मीटर ऊँचा चांगरी-ला है। इलाक़ा नि:संदेह बेहद कठिन और दुर्गम है, लेकिन एवरेस्ट बेस

कैंप से गोक्यो जाने का सबसे छोटा मार्ग भी है। लेकिन कठिनता के कारण शायद ही इधर से कोई जाता होगा।

ठीक चार बजे जब हम चांगरी ग्लेशियर को पार कर चुके और 5160 मीटर की ऊँचाई पर थे, सामने गोरकक्षेप दिखाई दिया। दूर नहीं था, केवल थोड़ा-सा नीचे उतरना था और हम किसी होटल में होते। आज की हमारी मंज़िल यही थी। हम बैठ गए और कभी गोरकक्षेप को, कभी खुंबू ग्लेशियर को और कभी काला पत्थर को निहारते रहे। बादल ज़रूर आने लगे थे, लेकिन 5600 मीटर ऊँचे काला पत्थर की चोटी और वहाँ तक जाती पगडंडी स्पष्ट दिख रहे थे। गोरकक्षेप से यह ज़्यादा दूर नहीं है।

आश्चर्यजनक रूप से गोरकक्षेप में हमें छत्रपति शिवाजी महाराज की प्रतिमा दिखाई पड़ी। इसे पुणे की 'गिरीप्रेमी' संस्था ने 2012 में लगाया था। यहाँ इतनी दूर विदेश में, जहाँ से चीन की सीमा केवल चार हवाई किलोमीटर दूर थी, शिवाजी महाराज की प्रतिमा को देखकर लगा जैसे कोई अपना मिल गया हो। इसके लिए पुणे की यह संस्था वास्तव में बधाई की पात्र है। शायद ही कोई नेपाली या अन्य विदेशी ट्रैकर्स शिवाजी महाराज के बारे में जानते हों, लेकिन भारत का बच्चा-बच्चा इसी नाम से अपने लिखने-पढ़ने की शुरुआत करता है।

छत्रपति शिवाजी महाराज, इस नाम में ही वीर- भाव है। इस वीर-भाव को उस समय हमसे बेहतर और कौन महसूस कर सकता था?

'स्नोलैंड हाईएस्ट इन' में हम पहुँचे। मालकिन से बात की, किराया बताया 300 रुपये। हमने हमेशा की तरह कहा, "फ़्री में दे दो।" बोली, "नहीं, फ़्री नहीं होगा, आप 200 दे देना।" 200 रुपये में कमरा तय हो गया। लेकिन अगले दिन जब जाने लगे तो देखा कि बिल में कमरे के 100 रुपये ही जोड़ रखे थे। शायद वह भूल गई थी कि कितने में तय हुआ था।

इस समय हम दोनों के सिर में दर्द था। आसपास शोर होता या कोई ज़ोर से बोलता या ठहाका लगाता तो सिर फटने को हो जाता। ऐसा ऊँचाई के कारण तो था ही, लेकिन धूप के कारण भी था। हालाँकि अभी फ़िलहाल धूप नहीं थी, बादल आ गए थे, लेकिन पूरे दिन हम तेज़ धूप में चले।

आज हमने डिनर में फ़्राइड मोमो बनवाए। फ़्राइड मोमो अर्थात काफ़ी हद तक अपने आलू के पकौड़े। ये 600 रुपये के एक प्लेट थे। इसके साथ जो इन्होंने चटनी परोसी, उसका स्वाद हमें आज तक भी याद है। चटनी चूँकि फ़्री थी, इसलिए हमने दो-तीन कटोरी चटनी चट कर डाली। पता नहीं किस चीज़ की चटनी थी, क्या मिलाकर इसे बनाया था; लेकिन थी शानदार।

सामने वाली मेज़ पर एक लड़की बैठी थी। अकेली। अँग्रेज़ी की एक किताब पढ़ रही थी, सिर दुपट्टे से लपेट रखा था। भारतीय लगती थी। हमें इस तरह किसी से भी बात करना, जान-पहचान बनाना पसंद नहीं है। लेकिन एक भारतीय लड़की अकेली एवरेस्ट बेस कैंप जा रही है, तो अवश्य कुछ ख़ास बात है। मैंने दीप्ति से इस बारे में इशारा किया,

"देख, वो भारतीय लग रही है और शायद अकेली है। हिम्मत की बात है।"

दीप्ति ने कहा, "हो सकता है कि वो भारतीय न हो और अकेली भी न हो।"

मैंने कहा, “हाँ, हो तो सकता है। लेकिन मुझे वह भारतीय ही लग रही है। तू उसके पास जाकर पता कर। विदेशी निकली तो बात ख़त्म और यदि भारतीय हुई तो वास्तव में यह एक बड़ी बात होगी।”

“नहीं, मैं नहीं जा रही। उसका रंग थोड़ा गहरा ज़रूर है, लेकिन वह भारतीय नहीं है।”

थोड़ी देर में उसके पास मोमो आ गए। जैसे ही वह मोमो खाने लगी, मैं ख़ुशी से उछल पड़ा- “हाँ, वह भारतीय ही है। अब मैं ख़ुद उससे बात करूँगा। वो भी हिंदी में। अगर वह एवरेस्ट बेस कैंप आ सकती है, तो उत्तराखंड, हिमाचल में भी उसने ट्रैकिंग कर रखी होगी।”

“कैसे पता चला कि भारतीय है?”

“देख, काँटे और चम्मच के बजाय हाथ से मोमो खा रही है। ठीक हमारी तरह।”

वे शालिनी थीं कोलकाता से। एक पॉर्टर उनके साथ था, और कोई नहीं। कल वे काला पत्थर जाएँगी और परसों बेसकैंप। मैंने उनका फ़ेसबुक लिंक ले लिया। बाद में स्वदेश आकर फ़ेसबुक पर जुड़ गए।

वाक़ई यह एक बड़ी बात थी। हमें उनसे मिलकर बहुत अच्छा लगा।

हम 5100 मीटर से ज़्यादा ऊँचाई पर थे। पहली बार इतनी ऊँचाई पर रात रुक रहे थे। दीप्ति को ‘डायमोक्स’ लेनी पड़ गई। हमें न इसे लेने का तरीक़ा मालूम था और न ही हमारे पास डायमोक्स थी। होटल की मालकिन से कहा, उसने दे दी और पैसे भी नहीं लिए।

सोते समय गुनगुनाने लगे:

“बाग़ों में झूलों के मौसम वापस आए रे,

घर आजा परदेसी तेरा देस बुलाये रे।”

आ रहे हैं। बस, एक दिन की बात और है। फिर वापसी की यात्रा शुरू हो जाएगी। और देस पहुँचकर ही दम लेंगे। हम जानते हैं कि वहाँ भयानक लू चल रही होगी, लेकिन हमें वो लू ही चाहिए। विदेश की शीतलता से अच्छी हमारी अपनी लू है।

बीसवाँ दिन: एवरेस्ट के चरणों में

28 मई **2016**

गोरकक्षेप। निश्चित ही इसका यह नाम यहाँ बहुतायत में पाए जाने वाले हमेशा ‘पक-पक’, ‘पका–पका–पका’ करते रहने वाले पक्षी के नाम परं पड़ा है। इसे आँग्रेज़ी में ‘तिबतन स्नोकॉक’ कहते हैं और नेपाली में ‘गोरक’। यह 3000 मीटर से ऊपर उन स्थानों में पाया जाता है, जहाँ पेड़ अक्सर नहीं होते। लद्दाख समेत पूरे हिमालय में मिलता है, लेकिन हिंदी या लद्दाखी में इसे क्या कहते हैं, पता नहीं।

इस ट्रैक में गोरकक्षेप सबसे महँगी जगह है। हो भी क्यों न? जितनी पैदल दूरी बढ़ती जाती है, महँगाई भी उतनी ही बढ़ती जाती है। उदाहरण के लिए; दूध की एक कप चाय 160 रुपये, काली चाय 110 रुपये, उबला हुआ एक अंडा 500 रुपये, टमाटर सूप 400 रुपये, एक प्लेट दाल-भात 750 रुपये, कोल्ड ड्रिंक 600 एम.एल., जो कि एक्सपायर हो चुकी 450 रुपये, पानी की एक लीटर वाली बोतल 350 रुपये। लेकिन इतने दिन ट्रैकिंग करने के दौरान हमने इस महँगाई को नज़रअंदाज़ करना सीख लिया था। एक तो ज़्यादातर चीज़ें अच्छी नहीं लगतीं, उस पर अगर हम खाने से पहले दाम देखने लगें, तो खाने का

रहा-सहा ज़ायका भी समाप्त हो जाता है।

नामचे बाज़ार में ए.टी.एम. से बीस हज़ार रुपये निकाल लेने के बाद हम पैसेवाले हो गए थे और इस ट्रैक के लिए पर्याप्त धनराशि हमारे पास मौजूद थी। दाल-भात हमें अच्छे नहीं लगते थे। एक दिन पिज़्ज़ा लिया, उसके बाद पिज़्ज़ा से भी तौबा कर ली। बिना कोल्ड-ड्रिंक के चाऊमीन गले से नीचे नहीं उतरती थी और ताज़ी कोल्ड-ड्रिंक अक्सर नहीं मिली। एक बार तो चार साल पुरानी कोल्ड-ड्रिंक भी देखी। गर्म पानी में चीनी और चायपत्ती डाल दी- चाय तैयार। कुल मिलाकर खाने के बहुत कम विकल्प थे। आजकल हम 'फ़्राइड पोटैटो' और 'फ़्राइड पोटैटो मोमो' पर फ़िदा थे। आलू की ये दोनों चीज़ें हमें हमेशा ही स्वादिष्ट लगीं। नामचे से नीचे आलू ख़ूब होता है, इसलिए ये चीज़ें अपेक्षाकृत सस्ती भी थीं।

आज सुबह से ही आसमान में बादल थे और काला पत्थर की चोटी भी नहीं दिख रही थी। काला पत्थर जाने के दो फ़ायदे होते हैं, एक तो वहाँ से एवरेस्ट का शानदार नज़ारा दिखाई देता है और दूसरे, आप 5500 मीटर से भी ऊपर पहुँच सकते हो। इस क्षेत्र में काला पत्थर ही उच्चतम स्थान है, जहाँ तक ट्रैकर्स जा सकते हैं। अन्यथा इससे ऊपर जाने के लिए आपको पर्वतारोही बनना पड़ेगा।

हम मानसिक और शारीरिक रूप से इतने थक चुके थे कि 5500 मीटर चढ़ने के लिए अपना एक रिकार्ड बनाने के लिए, हम काला पत्थर नहीं जाने वाले थे। यदि मौसम साफ़ होता, तो एवरेस्ट देखने के लालच में जा भी सकते थे, लेकिन ऊँचाई के लालच में कभी नहीं जाएँगे। बेसकैंप से एवरेस्ट नहीं दिखती और रास्ते में जहाँ-जहाँ से भी एवरेस्ट दिखाई देती है, वहाँ हमें बादल ही मिले। इसलिए काला पत्थर जाने का मन था, लेकिन बादलों के कारण इरादा त्याग दिया और पौने नौ बजे बेसकैंप के लिए निकल गए।

होटल में हाई एल्टीट्यूड से संबंधित कई बातें और चेतावनियाँ लिखी थीं। इनमें से एक थी कि आप काला पत्थर जा रहे हैं या बेसकैंप, इसकी सूचना होटल वाले को अवश्य देनी है। चेक-आउट टाइम सुबह नौ बजे का था, लेकिन केवल दीवार पर लिखने भर के लिए। हमने इसे गंभीरता से लिया और अपना अतिरिक्त सामान काउंटर पर जा पटका- "ये लो जी। हम बेसकैंप जा रहे हैं। दोपहर बाद तक लौट आएँगे। कमरा हमने ख़ाली कर दिया है।" मालकिन बोली- "इसे आप कमरे में ही रख दीजिए। आप कभी भी आना, यहाँ रुकना या मत रुकना, कोई अतिरिक्त शुल्क नहीं लगेगा।"

उधर कोलकाता की शालिनी काला पत्थर जाने की तैयारी में थीं, "एवरेस्ट तो नहीं दिखेगी, लेकिन यह मेरे लिए उच्चतम स्थान होगा। हिमालय में बाकी दूसरे स्थानों पर इतनी आसानी से 5500 मीटर तक नहीं जाया जा सकता।" हमने उन्हें शुभकामना दी और उन्होंने हमें।

दीप्ति अभी भी पूरी तरह ठीक नहीं थी। उसके सिर में दर्द था। पहले उसने चलने में असमर्थता भी जताई, लेकिन बाद में चलने को तैयार हो गई। वह आज भी कहती है, "एवरेस्ट बेसकैंप के इतना नज़दीक तक जाकर वापस लौट आना बड़ी भारी भूल होती। यह मुझे ज़िंदगी भर सालता रहता।" शॉल को सिर पर इस तरह लपेटा कि ज़रा भी हवा न

लगे।

रास्ता लगभग समतल ही है। गोरकक्षेप से बेसकैंप की तीन किलोमीटर की दूरी में आपको 100 मीटर ही ऊपर चढ़ना पड़ता है, जो कि बेहद मामूली बात है। कभी धूप निकल आती, कभी बादल आ जाते। हवा तूफ़ानी थी। धूप निकलती, तो सिरदर्द बढ़ जाता हम दोनों का। कहीं रुक जाते तो रुके ही रहते। अपने साथ केवल पानी की एक बोतल और कैमरा ही लाए थे। बाक़ी कुछ नहीं।

रास्ता खुंबू ग्लेशियर के बिल्कुल किनारे-किनारे है। ग्लेशियर में छोटी-छोटी झीलें और गहरे क्रेवास भी दिखते।

खुंबू ग्लेशियर के उस तरफ़ कई छोटे ग्लेशियर ऊपर लटके थे। इन्हें देखना ख़ास रोमांचक होता-ख़ासकर कैमरे से पूरा ज़ूम करके। वे एकदम साफ़-सुथरे ग्लेशियर थे और उनके क्रेवास यानी दरारें बिल्कुल स्पष्ट दिखाई देते। कई बार तो इन दरारों की गहराई देखकर ताज़्ज़ुब होता कि ऊपर लटके ये ग्लेशियर अभी तक नीचे क्यों नहीं गिरे? उधर से बड़ी भयानक-भयानक आवाज़ें भी आती रहीं, जो निश्चित ही कोई नई दरार बनने से या पुरानी दरार चौड़ी होने से आ रही होगी। हम इस समय यदि उनके नीचे से गुज़र रहे होते, तो डर के मारे दिल की धड़कनें दस गुना बढ़ गई होतीं। लेकिन चूँकि हम दूर थे, इसलिए सुरक्षित भी थे। फिर भी प्रत्येक गड़गड़ाहट के साथ दिल भी ज़ोरों से धड़कता।

अचानक ऐसी ही भयंकर गड़गड़ाहट हुई, हमने गर्दन उधर घुमाई तो नज़ारा विस्मित कर देने वाला था। ग्लेशियर का एक हिस्सा टूटकर नीचे गिरने लगा था और एवलांच (हिमस्खलन) पैदा हो गया था। मैंने पानी की बोतल वहीं छोड़कर फटाक से कैमरा संभाला और इसकी वीडियो बनाने लगा। हिम नीचे गिरती-गिरती चूरा होती गई और नीचे तक आती-आती काफ़ी दूर तक बिखर गई। कोई अगर वहाँ होता, तो ज़िंदा बचना नामुमकिन था।

आख़िर में एक स्थान ऐसा था, जहाँ से हमें ग्लेशियर का किनारा छोड़कर नीचे इस पर उतर जाना था। सामने खुंबू ग्लेशियर पर अनगिनत तंबू लगे थे। रंग-बिरंगे तंबू। यही एवरेस्ट बेस कैंप है। तंबुओं के उस तरफ़ खुंबू आइसफ़ॉल था। मैं जब भी किसी की एवरेस्ट कथा पड़ता, तो खुंबू आइसफ़ॉल के अनुभव ही मुझे ज़्यादा रोमांचक लगते। आज वही हमारे सामने था। इसका ऊपरी सिरा बादलों के बीच था, इसलिए इसकी ऊँचाई का अंदाज़ा नहीं लग रहा था।

खुंबू आइसफ़ॉल खुंबू ग्लेशियर का ऊपरी हिस्सा है। यह बेहद ढलान वाला भाग है यहाँ ग्लेशियर अत्यधिक ख़तरनाक स्वरूप में सामने आता है। इसमें निरंतर नये-नये क्रेवास बनते रहते हैं, पुराने क्रेवास चौड़े होते रहते हैं और अत्यधिक विशाल हिमखंड कभी भी टूट कर गिर जाते हैं। हिमखंडों के लगातार टूटकर गिरते रहने से ही इसे आइसफ़ॉल कहते हैं। क्रेवासों को पार करना आसान नहीं होता और इनके लिए एल्युमीनियम की बनी हल्की और मज़बूत सीढ़ियाँ प्रयोग की जाती हैं। कई-कई मंज़िल ऊँचे हिमखंडों पर चढ़ने के लिए भी सीढ़ियाँ लगाई जाती हैं। सीढ़ियाँ लगाने वालों का एक अलग दल होता है, जिन्हें 'आइसफ़ॉल डॉक्टर' कहते हैं। इन सीढ़ियों के बिना आप खुंबू आइसफ़ॉल को पार नहीं कर

सकते। यही आइसफ़ॉल हम जैसे ट्रैकर्स का रास्ता रोक देता है। ट्रैकर्स टैक्निकल चढ़ाई के लिए प्रशिक्षित नहीं होते। यदि कोई ट्रैकर ज़िद करके खुंबू आइसफ़ॉल पर चढ़ने की कोशिश करेगा, तो उसे क्रेवास कार करने पड़ेंगे, इसके लिए सीढ़ियों की आवश्यकता होती है और यह एक भारी ख़र्च का कार्य है।

हाँ, आपके पास अगर लाखों रुपये हैं, थोड़ा-सा ट्रैकिंग का अनुभव है तो आप एवरेस्ट तक जा सकते हैं। मैंने सुना है कि शेरपा आपको कंधे पर बैठाकर भी एवरेस्ट की 'सैर' कराने का दम-खम रखते हैं।

बेसकैंप के बाद शिखर तक पर्वतारोहियों की इतनी भीड़ होती है कि अक्सर जाम लग जाता है। ऐसे में कोई तूफ़ान आता है, कोई हिमस्खलन होता है और 10-15 पर्वतारोही जान से हाथ धो बैठते हैं। एवरेस्ट पर सर्वाधिक मौतें अवश्य होती हैं, लेकिन फिर भी अन्य चोटियों के मुक़ाबले मौतों का प्रतिशत बहुत कम है। मौतें केवल भीड़ के कारण होती हैं।

मेरी शिखर पर चढ़ने की कभी इच्छा नहीं होती। बेसकैंप तक आने की इच्छा थी और आज बेसकैंप मेरे सामने था।

कुछ भारतीय मिले। अनायास ही बातचीत हो गई। यह भारतीय सेना का दल था, जो एवरेस्ट शिखर फ़तह करके लौटा था। कुछ दिन पहले हमने एक होटल में भारतीय सेना और भारतीय एन.सी.सी. के पोस्टर चिपके देखे थे। वे इन्होंने ही चिपकाए थे। ये सभी सेना में उच्चाधिकारी थे, एकाध सिपाही था। एक कर्नल मेरठ का था। बड़ी ख़ुशी हुई हम दोनों को एक-दूसरे से मिलकर। इन्होंने बताया कि पर्वतारोहण सफल रहा, लेकिन एक पर्वतारोही को साउथ कोल पर पाला लग जाने के कारण हेलीकॉप्टर से नीचे लाया गया। ऐसा न करते तो उसके पैर काटने पड़ सकते थे। यह पूछने पर कि बेसकैंप के बाद कौन-सा भाग सबसे कठिन है, उत्तर दिया कि सबसे कठिन खुंबू आइसफ़ॉल है। उसके बाद अपेक्षाकृत आसान है। मुख्यतया ठंड और तूफ़ान से लड़ना होता है।

भारतीय सेना के पाँच जवान कल होने वाली एवरेस्ट मैराथन में हिस्सा लेंगे, इसलिए पूरा दल यहाँ रुका हुआ था, अन्यथा कभी के स्वदेश लौट जाते।

कर्नल साहब ने कहा- "यार, तुम अगर कल आते तो हम तुम्हें अपने कैंप में आमंत्रित करते। आज कैंप उखाड़ लिया है। तुम यहीं रुकते। बेसकैंप पर रुकने का मौक़ा सभी को नहीं मिलता।"

कर्नल ने ग्लेशियर की तरफ़ इशारा करके बताया- "वे झंडियाँ देख रहे हो। वही वास्तविक बेसकैंप है।"

नीचे उतरकर ग्लेशियर पहुँचे, थोड़ा-सा हिम की नुकीली धार पर चले। यहाँ फिसलन थी, इसलिए इसे कम करने के लिए पत्थर रखे हुए थे, लेकिन ये पत्थर भी पैर का बोझ पड़ते ही थोड़ा-सा हिल जाते। यही से याक उतरते-चढ़ते और बोझ से लदे शेरपा भी। ठीक सवा ग्यारह बजे झंडियों तक पहुँचे। यही बेसकैंप है। एक पत्थर पर लिखा था, एवरेस्ट बेस कैंप 2016। इस समय एक चीनी दल यहाँ शुटिंग कर रहा था। इनकी शूटिंग कम-से-कम आधे घंटे चली। तब तक हमारे पास धूप-छाँव में बैठकर खुंबू आइसफ़ॉल को देखने के सिवाय कोई और चारा नहीं था।

दूर से देखने पर यह एक मंत्रमुग्ध कर देने वाली चीज़ है। कैमरे को 30 गुना ज़ूम करके इसे विस्तार से देखा। उम्मीद थी कि कोई दल इस पर चढ़ता या उतरना दिखेगा, लेकिन कोई नहीं दिखा। दिखे तो केवल इसके क्रेवास।

एवरेस्ट की खोज

मैं अक्सर सोचता था कि एवरेस्ट की खोज किसने की होगी। क्योंकि नेपाल और तिब्बत अपने यहाँ किसी भी विदेशी, ख़ासकर अँग्रेज़ों को नहीं आने देते थे। फिर कैसे नेपाल-तिब्बत की सीमा पर स्थित एवरेस्ट को पहचान मिली?

पहले कंचनजंगा को विश्व की सबसे ऊँची चोटी माना जाता था। बाक़ी चोटियों के सर्वे के लिए नेपाल अपने यहाँ किसी को नहीं घुसने देता था। चूँकि कंचनजंगा से एवरेस्ट दिखाई देती है, इसलिए शीघ्र ही पता चल गया कि एक चोटी कंचनजंगा से भी ऊँची है। इसका नाम रखा गया – 'पीक बी', जिसे बाद में 'पीक XV' भी कहा जाने लगा। इसके बाद नेपाल के दक्षिण में स्थित तराई से भी साफ़ मौसम में एवरेस्ट की ऊँचाई मापने के लिए सर्वे हुए कुमाऊँ से भी इसे देखने और ऊँचाई मापने की कोशिश की गई। इस कार्य में जिस भारतीय का नाम सबसे आगे है, वे हैं राधानाथ सिकदर। ये एक बंगाली थे और एक गणितज्ञ भी। इन्होंने गणनाएँ करके सर्वप्रथम 1852 में घोषणा की कि 'पीक XV' दुनिया की सबसे ऊँची चोटी है। लेकिन इनकी बात अँग्रेज़ों ने नहीं मानी और अधिक परिष्कृत गणनाएँ करने में सालों लगा दिए। आख़िरकार 1856 में आधिकारिक तौर पर इसकी ऊँचाई 29002 फीट घोषित की गई और यह दुनिया की सबसे ऊँची चोटी बन गई।

बाद में जब और ज़्यादा परिशुद्धता से ऊँचाई नापी गई, तो यह 29029 फीट यानी 8848 मीटर निकली। हालाँकि चीन और नेपाल के बीच इसकी ऊँचाई को लेकर कुछ मतभेद हैं, लेकिन फ़िलहाल 8848 मीटर ही सर्वमान्य है।

अँग्रेज़ इसका कोई स्थानीय नाम रखना चाहते थे, लेकिन नेपाल और तिब्बत में न जा पाने के कारण वे कोई ठोस स्थानीय नाम नहीं जान सके और 'सर्वेयर जनरल ऑफ़ इंडिया' सर जॉर्ज एवरेस्ट के नाम पर इसका नाम रख दिया। अगर नेपाल अपने यहाँ अँग्रेज़ों को इसकी और ज़्यादा खोज के लिए जाने देता, तो आज इसका नाम 'एवरेस्ट' न होकर 'सागरमाथा' होता। ठीक 'कंचनजंगा' और 'नंदादेवी' की तरह। कहीं पढ़ा है कि सर जॉर्ज एवरेस्ट ने अपने नाम पर इसका नाम रखे जाने का विरोध किया था और राधानाथ सिकदर के योगदान को देखते हुए उनके नाम का सुझाव दिया था, लेकिन किसी ने उनकी बात नहीं मानी। अगर ऐसा हो जाता तो आज इस चोटी का नाम 'माउंट सिकदर' या 'माउंट राधानाथ' होता।

सन् 1924 में इंग्लैंड के जॉर्ज मैलोरी और एंड्रयू इरविन के दल ने कई असफल प्रयासों के बाद तिब्बत की तरफ़ से एवरेस्ट लगभग फ़तह कर ही लिया था, लेकिन ये कभी भी वापस नहीं लौट सके। 75 साल बाद सन् 1999 में इनका शव मिला। कुछ लोग ऐसा भी मानते हैं कि ये लोग एवरेस्ट पर पहुँच चुके थे और वहाँ पहुँचने वाले दुनिया के पहले मनुष्य थे। लेकिन उनके वापस न लौट पाने के कारण सबकुछ संदेहास्पद था, इसलिए उन्हें एवरेस्ट पर चढ़ने वाला प्रथम मनुष्य नहीं माना गया।

सन् 1945 और सन् 1950 के बीच दुनिया की राजनीति में बड़े परिवर्तन हुए। द्वितीय विश्व-युद्ध समाप्त हुआ, भारत को आज़ादी मिली और चीन में साम्यवादी सरकार आई और तिब्बत पर क़ब्ज़ा करना शुरू कर दिया। इस कारण चीन ने तिब्बत की सीमा को सील कर दिया और एवरेस्ट जाने वालों पर रोक लगा दी। इससे नेपाल पर दबाव बढ़ा कि उनके देश में दुनिया की सबसे ऊँची चोटी है और वे इसके अभियानों के लिए नरम नीति अपनाएँ। पहले तो नेपाल ने केवल वैज्ञानिक अभियानों को ही मान्यता दी, लेकिन सन् 1950 आते-आते पर्वतारोहण के लिए भी मान्यता दी जाने लगी।

आख़िरकार एवरेस्ट पर चढ़ने की उपलब्धि हासिल हुई न्यूजीलैंड के एडमंड हिलेरी और नेपाल के शेरपा तेनजिंग नोरगे को। उन्होंने 29 मई 1953 को एवरेस्ट फ़तह की। कल 29 मई ही है यानी ठीक 63 साल पहले पहली बार कोई एवरेस्ट पर चढ़ा था। इसी याद में प्रतिवर्ष 29 मई को बेसकैंप से नामचे बाज़ार तक एवरेस्ट मैराथन आयोजित की जाती है।

तेनजिंग नोरगे के बारे में एक मज़ेदार बात और बताना चाहूँगा। उनके माता-पिता तिब्बती थे और तेनजिंग भी तिब्बत में पैदा हुए थे। फिर ये लोग तेंगबोचे आ गए जो नेपाल में नामचे बाज़ार के पास है। लेकिन 19 साल की आयु में तेनजिंग ने नेपाल भी छोड़ दिया और दार्जीलिंग में बस गए। उस समय पासपोर्ट और नागरिकता का इतना बड़ा मुद्दा नहीं हुआ करता था। नेपाली, तिब्बती और भारतीय बिना पासपोर्ट के एक-दूसरे देश में घूमा करते थे। तो जब 1953 में तेनजिंग का नाम एवरेस्ट फ़तह करने में सामने आया तो उन्हें भारत ने अपनी नागरिकता दे दी। बाद में शायद चीन ने भी उन्हें अपनी नागरिकता दी। और नेपाली नागरिक तो वे थे ही। फिर तो वे आजीवन दार्जीलिंग में ही रहे। यह थोड़ा-सा नागरिकता और पासपोर्ट का चक्कर पड़ जाता है, अन्यथा हम भी कहते कि एक भारतीय ही सबसे पहले एवरेस्ट पर चढ़ा था। क्या हुआ कि उनका परिवार तिब्बत से आया था या वे नेपाल से आए थे?

अब अगर भारत की बात करें तो कैप्टन अवतार सिंह चीमा ने 20 मई 1965 को एवरेस्ट फ़तह की थी और वे ऐसा करने वाले प्रथम भारतीय थे। इसी दल में 29 मई को मेजर हरिपाल सिंह अहलूवालिया ने भी एवरेस्ट फ़तह की थी। वैसे तो मैंने हिंदी में बचेन्द्री पाल समेत कई पर्वतारोहियों के वृत्तांत पढ़े हैं, लेकिन इनमें अहलूवालिया जी का ही वृत्तांत मुझे सबसे अच्छा लगा, क्योंकि एक तो उन्होंने यह अभियान तब किया था, जब जयनगर से ही इनके पूरे दल को पैदल जाना पड़ा था। टनों सामान और सैकड़ों पॉर्टरों का यह विशालकाय दल था। अच्छा लगने का दूसरा कारण यह है कि इसमें उन्होंने बेसकैंप तक के पैदल मार्ग का अच्छा वर्णन किया है। उस समय तक एवरेस्ट मार्ग वाणिज्यिक नहीं हुआ था और यह सब उनकी पुस्तक ‘एवरेस्ट के शिखर पर’ में साफ़ दिखता भी है।

...

वापस अपनी यात्रा पर लौटते हैं।

दीप्ति ने धूप और तेज़ हवाओं से बचने के लिए अपना सिर पूरी तरह लपेट रखा था, केवल चेहरा ही दिखता था। एक फ़्रांसीसी ट्रैकर ने अँग्रेज़ी में पूछा, “आप ईरान में कहाँ रहती हैं?”

यह सुनते ही हम पहले तो हैरान हुए, लेकिन शीघ्र ही समझ गए कि सिर लपेट लेने के कारण दीप्ति वास्तव में ईरानी लग रही थी। तब उसे समझाया कि हम भारतीय हैं और धूप से बचने को सिर लपेट रखा है। सब बड़े हँसे।

जी.पी.एस. से हमने बेसकैंप की ऊँचाई मापी- 5220 मीटर निकली। बाद में गुगल मैप पर इस स्थान की ऊँचाई देखी, तो 5270 मीटर के आसपास मिली। हालाँकि बेसकैंप यह छोटा-सा स्थान नहीं है, इससे आगे काफ़ी बड़ा इलाका बेसकैंप ही कहलाता है। आगे काफ़ी दूर तक पर्वतारोहियों के तंबू लगे थे, जो 5300 मीटर से भी ज़्यादा ऊपर तक जा रहे थे। इसलिए हम इस बारे में कोई तर्क नहीं करेंगे कि बेसकैंप कितनी ऊँचाई पर है। आजकल मोबाइलों में अच्छे जी.पी.एस. आ रहे हैं, उधर गूगल मैप की ऊँचाई में भी त्रुटि मिल जाती है। ग्लेशियर के ऊपर स्थित होने से त्रुटि की संभावना ज़्यादा हो जाती है। ग्लेशियर गतिशील भी होते हैं और पिघलते भी हैं, इसलिए मैं अपने रिकार्ड में लिखूँगा-

“28 मई 2016 को एवरेस्ट बेसकैंप 5220 मीटर की ऊँचाई पर स्थित था।”

धूप, छाँव, ठंड, तूफ़ान सबकुछ यहाँ था, लेकिन यहाँ हमारा मन लग गया। अच्छा लग रहा था। बेसकैंप से एवरेस्ट नहीं दिखती, लेकिन यदि दिखती भी हो तो हमें नहीं दिखने वाली थी। खुंबू आइसफ़ॉल आधी ऊँचाई तक दिख रहा था, उसके ऊपर बादल-ही-बादल थे। अगर ये बादल न होते, तो हम आज तक कई बार एवरेस्ट के दर्शन कर सकते थे। नामचे बाज़ार के थोड़ा नीचे से एवरेस्ट दिखती है, शायद प्रथम दर्शन वहीं से होते हों। फिर गोक्यो-री से दिखती है, चो-ला से दिखती है और अन्यत्र भी कई स्थानों से दिखती है। लेकिन जब-जब भी हम इन स्थानों पर गए एवरेस्ट बादलों के पीछे छुप जाती। हमें दिशा का भी भान होता, हम एवरेस्ट की तरफ़ इशारा भी करते, लेकिन वह बाहर नहीं निकलती। हम निराश होने के बजाय ख़ुशी से चिल्ला उठते, “हमें पता है कि तू वहाँ है, उस बादल के पीछे।”

बेसकैंप से लौटते समय एक कसक भी थी कि एवरेस्ट के दर्शन नहीं हुए। लेकिन आभास भी हो रहा था कि वह हमें देख रही है और हम उसके साये में चल रहे हैं।

ठीक बारह बजे हम बेसकैंप से वापस मुड़ लिए। पौने दो घंटे लगे गोरकक्षेप पहुँचने में। जाते ही पोटैटो फ़्राइड मोमो का ऑर्डर दे दिया। हमें इसकी चटनी बड़ी अच्छी लगी थी। होटल की मालकिन भी जानती थी कि हम चटनी के कारण ही मोमो ले रहे हैं, इसलिए उसने दो कटोरे भरकर चटनी दे दी। और हमने भी इसे इतने चटखारे लेकर खाया कि चटनी पहले ख़त्म हो गई और मोमो बाद में।

अब एक प्रश्न और मन में उमड़ रहा था, “काला पत्थर जाएँ या न जाएँ?” आज काला पत्थर जाने का समय तो था, लेकिन इस समय हम ऊपर नहीं चढ़ना चाहते थे। इसलिए आज यहीं रुकना पड़ेगा।

लेकिन अगर कल सुबह भी मौसम ख़राब रहा तो? हम केवल एवरेस्ट देखने के लालच में ही काला पत्थर जाते, ऊँचाई का रिकार्ड बनाने के लिए नहीं। बड़ा सोच-विचार हुआ। रुकें, न रुकें। कल मौसम साफ़ होने की संभावना तो है, सामान्यत: सुबह के समय मौसम साफ़ ही रहता है, इसलिए कल काला पत्थर से एवरेस्ट दिख जाएगी।

यही सोच-विचार करते-करते कमरे में आकर लेट गए और मोबाइल में गाना बजा दिया। थके हुए तन और मन दोनों को शांति मिली। दो गाने ख़त्म होते-होते हम दोनों ने एक-साथ कहा, “स्वदेश चलो।”

सामान बाँधा और ठीक तीन बजे यहाँ से निकल लिए। होटल मालकिन ने लोबुचे रुकने का सुझाव दिया और हमने मान भी लिया। रास्ते में छत्रपति शिवाजी महाराज मिले। उनके भी दर्शन किए। आभार भी व्यक्त किया कि यहाँ दूर-देश में आपसे हमें बड़ा सहारा मिला।

ज़्यादातर लोग गोरकक्षेप आते हुए ही मिल रहे थे। इनमें से कुछ डिंगबोचे से चले होंगे, कुछ थुकला से और कुछ ज़ोंगला से। हम सबसे और सब हमसे नमस्ते कहते रहे।

दो घंटे में यानी पाँच बजे लोवुचे पहुँचे। हालाँकि शरीर बुरी तरह थका हुआ था, लेकिन दीप्ति को देश लौटने की इच्छा मुझसे ज़्यादा थी, इसलिए उसने कहा, “आगे बढ़ो।”

बड़ी दूर तक रास्ता लगभग समतल-जैसा ही रहता है। घंटे भर में ही हम उस स्थान पर पहुँच गए, जहाँ से गोक्यो का रास्ता अलग होता है। कल हम गोक्यो की तरफ़ से आए थे, आज दूसरे रास्ते से जाएँगे। यहाँ कुछ झंडियाँ लगी थीं, कुछ तख़्तियाँ भी लगी थीं, जो कह रही थी कि नामचे बाज़ार का रास्ता बाईं ओर वाला है। इस समय तो हमने इन्हें साधारण ऐसी-वैसी तख़्तियाँ ही समझा, लेकिन अगले दिन पता चला कि ये मैराथन धावकों के लिए लगाई गईं हैं। चूँकि सीधी पगडंडी गोक्यो की तरफ़ जाती है, इसलिए काफ़ी संभावना थी कि दौड़ते हुए धावक भी सीधे ही जा सकते थे।

मैराथन की तैयारियाँ वास्तव में अच्छी थीं।

थोड़ा आगे एक समतल स्थान था, जहाँ कुछ क़ब्रें बनी थीं। ये क़ब्रें एवरेस्ट या अन्य चोटियों को फ़तह करने के दौरान जान गँवाने वाले पर्वतारोहियों की ही रही होंगी। यहाँ बराबर में खुंबू ग्लेशियर समाप्त हो जाता है और इम्जा खोला नदी का आरंभ हो जाता है। हालाँकि ग्लेशियर समाप्त होता दिखता नहीं है, लेकिन इसे अनुभव अवश्य किया जा सकता है।

सामने लगभग 200 मीटर नीचे थुकला दिखाई देने लगा। यह काफ़ी तेज़ ढलान था, लेकिन हमें इसे तय करने में आधा घंटा लगा। छः बजे जब हम थुकला से थोड़ा ही दूर थे, तो बादलों के बीच से झाँकती आमा डबलम दिखी। यह चोटी मुझे प्रथम दर्शन से ही मंत्रमुग्ध किए जा रही थी। अब इसका केवल ऊपरी सिरा दिखा। लगा जैसे यह झाँककर, बादलों के ऊपर से उचककर हमें देख रही हो और सफलता की शुभकामनाएँ दे रही हो।

लगभग 4600 मीटर की ऊँचाई पर स्थित थुकला में अच्छी-ख़ासी ठंड हो गई थी। जिस होटल में हम रुके, हमारे अलावा और कोई नहीं रुका था। यहाँ हमारी फ़्री में रुकने की हसरत पूरी नहीं हुई और 200 रुपये का कमरा लेना पड़ा। लेकिन मेज़बान बड़े हँसमुख और बातूनी थे। इन्होंने अपने मोबाइल में एक फ़ोटो दिखाया और बताया कि यह सऊदी अरब (या दुबई, ध्यान नहीं) के राजकुमार का फ़ोटो है। वे पिछले साल एवरेस्ट आए थे।

मेज़बान को अपना खाना तो बनाना ही था, साथ में हमारा भी। हमने उनकी सुविधा के लिए दाल-भात लेना स्वीकार कर लिया। अन्यथा उन्हें हमारे लिए कुछ और बनाना

पड़ता।

सोने से पहले आज के दिन के बारे में सोचने लगे। निःसंदेह आज का दिन हमारी ज़िंदगी का एक अहम दिन था। जिस ट्रैक पर जाने की इच्छा सभी ट्रैकर्स करते हैं, आज हमने उसी ट्रैक को पूरा कर लिया था।

एवरेस्ट बेस कैंप। हालाँकि प्रत्येक पर्वत का एक बेसकैंप होता है, लेकिन अगर कहीं दो ट्रैकर्स खड़े 'बेसकैंप' का ज़िक्र कर रहे हों, तो समझ लेना कि एवरेस्ट बेसकैंप की ही चर्चा चल रही होगी।

इक्कीसवाँ दिन: थुकला से नामचे बाज़ार

29 मई 2016

सुबह सात बजे आसमान साफ़ था और आमा डमलम दिखाई दे रही थी। इस पृष्ठभूमि में यह गाँव बड़ा सुंदर दिख रहा था। खुंबू क्षेत्र की सबसे ख़ूबसूरत चोटी है आमा डबलम। आप कहीं भी खड़े हैं और आमा डबलम आपको दिख रही है तो यक़ीन मानिए कि आप दुनिया की सबसे ख़ूबसूरत जगह पर खड़े हैं।

एवरेस्ट मैराथन शुरू हो चुकी थी। इसमें भले ही नेपालियों से ज़्यादा विदेशी हिस्सा ले रहे हों, लेकिन भगदड़ और भीड़ बिल्कुल नहीं थी। बड़ी-बड़ी देर में एक-एक धावक आते और ढलान पर तेज़ी से आगे निकल जाते। धावक नेपाली होते या विदेशी, थुकला वाले तालियाँ बजाकर उनका हौंसला बढ़ाते। मुझे लगा कि चूँकि बेसकैंप से निकलने का स्थान बहुत ही तंग था, सैकड़ों धावक तो रहे ही होंगे, इसलिए हो सकता है कि थोड़े-थोड़े अंतराल पर एक-एक धावक को छोड़ा जाता हो, उनका समय नोट कर लिया जाता हो और आख़िर में जिसने सबसे कम समय लिया, उसे विजयी घोषित कर दिया जाता हो। शायद इसीलिए एक-एक करके धावक यहाँ तक पहुँच रहे हैं। लेकिन मेरा यह अंदाज़ा ग़लत था। बाद में पता चला कि सभी को बेसकैंप से एक साथ ही हरी झंडी दिखाई गई थी, कुछ लोग ग्लेशियर पर फिसले भी थे, कुछ दूर तक भीड़ और भगदड़ भी रही थी, लेकिन शीघ्र ही जीतने वाले आगे हो गए और किसी तरह इस मैराथन को पूरा करने वाले पीछे। ज़्यादातर लोग केवल इसमें हिस्सा-भर ले रहे थे। वे अपनी क्षमता से परिचित थे और केवल जीतने के लिए नहीं दौड़ रहे थे। यही खेल-भावना है।

यह मैराथन प्रति वर्ष 29 मई को आयोजित की जाती है। इसे तेनजिंग हिलेरी एवरेस्ट मैराथन भी कहा जाता है। जो लोग नामचे बाज़ार तक नहीं दौड़ पाते, उनके लिए हाफ़ मैराथन भी आयोजित होती है, जो इसके साथ-साथ ही चलती है। यह शायद डिंगबोचे तक होती है। प्रतिभागियों को पहले ही घोषणा करनी होती है कि वे हाफ़ मैराथन में दौड़ेंगे या फुल मैराथन में। इनका पूरा रिकार्ड आयोजकों के पास होता है। रास्ते में हर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर कैंप लगे होते हैं, जहाँ धावकों को पानी और फल आदि मिलते हैं। डॉक्टर बैठा होता है और सबसे ज़रूरी बात कि प्रत्येक धावक की ट्रैकिंग होती है। प्रत्येक कैंप पर सभी धावकों का डाटा रहता है और जैसे ही धावक वहाँ से गुज़रता है, ये लोग अपने रिकार्ड में उसके नाम के आगे निशान लगा लेते हैं और वॉकी-टॉकी से अपने हेडक्वार्टर में बताते रहते हैं कि फलाँ कैंप से कितने धावक गुज़र चुके हैं।

थुकला से निकलते ही हमें इम्जा खोला पार करनी पड़ी। यह नदी खुंबू ग्लेशियर से निकलती है। इस पर लोहे का एक पुल बना है। उस पार एक कैंप था, थुकला कैंप। यहाँ से

बेसकैंप 12.3 किलोमीटर दूर है, यानी धावक अब तक 12.3 किलोमीटर की दूरी तय कर चुके होते हैं। यहाँ से दो रास्ते अलग होते हैं, एक नीचे फेरीचे जाता है और दूसरा ऊपर डिंगबोचे। फेरीचे और डिंगबोचे के बाद दोनों रास्ते एक हो जाते हैं। लेकिन डिंगबोचे वाला रास्ता लंबा है, इसलिए हमने फेरीचे वाला रास्ता लिया। धावकों को डिंगबोचे से होकर जाना पड़ता है। वे ग़लती से नीचे वाले रास्ते पर न चले जाएँ, इसके लिए झंडियाँ लगी हैं, तीर के निशान लगे हैं और कैंप के कर्मचारी भी ध्यान रखते हैं।

यहाँ से आगे बड़ा तेज़ ढलान था। नीचे उतरकर हम इम्जा खोला के साथ-साथ लगभग समतल में चलने लगे। चौड़ी घाटी थी। सामने फेरीचे दिख भी रहा था और फेरीचे के ठीक ऊपर आमा डबलम। एक छोटा-सा उजाड़ गाँव मिला। एक टूटे घर के टूटे दरवाज़े पर टूटी-फूटी अँग्रेज़ी में लिखा था, टी शॉप, लेकिन न चाय का कहीं नामोनिशान था और न ही दुकान का।

आसमान में बादल अवश्य आने लगे थे, लेकिन धूप भी तेज़ निकली हुई थी। इस तेज़ धूप ने हमारा दम निकाल दिया। साढ़े नौ बजे जब फेरीचे पहुँचे तो हम पूरी तरह थक चुके थे और भूख भी लगी थी। यहाँ कई आलीशान होटल थे, सभी खुले भी थे, लेकिन इनमें कोई नहीं मिला। आख़िर में गाँव पार करके एक जगह रुके। यहाँ भी चाय-बिस्कुट ही मिले। चिप्स का एक पैकेट अगस्त 2014 का बना हुआ था और इसकी एक्सपायरी थी चार महीने बाद, यानी दिसंबर 2014 में। आज डेढ़ साल बाद मई 2016 में भी यह पैकेट 150 रुपये का था, हालाँकि पैकेट पर कीमत लिखी थी 40 रुपये। दुकानदार को इस बारे में अवगत कराया तो उसने बड़े विस्मय से इसे देखा और कहा, “अच्छा, ऐसा भी होता है?”

यह ठीक है कि यहाँ सारा सामान खच्चरों पर या याकों पर या इंसानों की पीठ पर बड़ी दूर से ढोया जाता है। सामान पहुँचने में कई-कई दिन लग जाते हैं। लेकिन खाने की चीज़ें काफ़ी समय पहले एक्सपायर हो चुकी होती हैं। ज़्यादातर विदेशी लोग यहाँ आते हैं, क्या किसी का ध्यान नहीं जाता इस बात पर? मुझे अपने देश के लद्दाख और कई दुर्गम इलाक़े याद आए। वहाँ इस तरह एक्सपायरी चीज़ें नहीं मिलतीं। और अगर मिलती भी हैं तो दुकानदार को इस बारे में पता रहता है और वह इसके लिए शर्मिंदा भी होता है। कई बार तो ऐसी चीज़ें फ़्री में भी दे देते हैं, अन्यथा पैसे कम तो ज़रूर ही हो जाते हैं।

नेपाल को इस मार्ग से प्रतिवर्ष अरबों रुपये मिलते हैं। यह नेपाल की सबसे महँगी जगह भी है। लेकिन खाने की गुणवत्ता इस महँगाई के अनुरूप नहीं है। बेतहाशा व्यावसायिकता है। अंधी व्यावसायिकता। किसी को अगर इस तरह का खाना खाने से कुछ हो भी जाता होगा, तो ये लोग बड़ी आसानी से उस व्यक्ति की ही ग़लती घोषित कर देते होंगे, हाई एल्टीट्यूड की वजह से ऐसा हुआ।

सवा दस बजे हम फेरीचे से चल दिए। इम्जा खोला पर लोहे का एक पुल मिला। नदी पार करके थोड़ी चढ़ाई थी। ऊपर झंडियाँ लगी थीं और दर्रे का आभास हो रहा था। इसके बाद उतराई मिली। उतरते-उतरते आख़िरकार हम डिंगबोचे से आने वाले रास्ते में जा मिले। कहते हैं कि डिंगबोचे से एवरेस्ट दिखाई देती है। मौसम साफ़ ज़रूर था, लेकिन उतना भी साफ़ नहीं था। हमें डिंगबोचे न जाने का और एवरेस्ट न देख पाने का कोई

मलाल नहीं था।

अब फिर से मैराथन धावक मिलने लगे। एक विदेशी धावक के घुटने और कोहनी छिले पड़े थे और ख़ून से लाल हो गए थे। वह हाल-फ़िलहाल में ढलान पर दौड़ते हुए गिर गया होगा। कई जगह तो ढलान इतने तीखे होते कि धीरे-धीरे चलना भी मुश्किल लगता। कोई अगर उस पर दौड़ेगा तो गिरने की संभावना बहुत बढ़ जाती है। हमने उसका हौंसला बढ़ाने को पूछा, "आर यू ओके?" उसने कहा, "या, थैंक्स।" हालाँकि हमें पता था कि वह 'ओके' नहीं था और अगर वह कहता कि नहीं, ओके नहीं हूँ और रुक जाता, तो हम कुछ भी नहीं कर सकते थे। थोड़ा आगे एक कैंप था। वहाँ डॉक्टर भी था। उसने दवाई-पट्टी करा ली होगी।

बहुत से धावक ट्रैकिंग स्टिक लेकर दौड़ रहे थे। यह रास्ता मैराथन पथ नहीं है, मूलत: एक ट्रैकिंग पथ है। हाई एल्टीट्यूड है, इसलिए ट्रैकिंग स्टिक जरूरी हो जाती है। थक जाते तो चलने लगते, फिर दौड़ने लगते।

मैंने कभी मैराथन में न भाग लिया है और न ही कभी इसे देखा है। आज पहली बार मैराथन देखी, वो भी माउंट एवरेस्ट के क्षेत्र में।

साढ़े ग्यारह बजे शोमारे पहुँचे। 4000 मीटर की ऊँचाई पर बसे इस गाँव में रास्ता बहुत ढलानदार है। निवासी रास्ते के किनारे बैठकर कपड़े धो रहे थे, रास्ते पर पानी भी आ रहा था और फिसलन हो गई थी। याकों का रेला आता, तो बचने में बड़ी दिक़्क़त होती।

पंगबोचे के पास भी एक कैंप था। यहाँ से बेसकैंप 27.5 किलोमीटर दूर है। धावकों को फ़्री में केले खाते देख हमारे मन में लालच जगा, काश, हम भी इसमें भाग लेते। दौड़ पूरी होती या न होती, लेकिन कम-से-कम फ़्री में खाने को तो मिलता।

पंगबोचे में हम भोजन के लिए रुक गए। बारह बज चुके थे और हमने अभी तक थोड़ी-सी चाय और बिस्कुट ही खाए थे। होटल बिल्कुल ख़ाली था। आवाज देकर इसकी मालकिन को बुलाया और दो प्लेट दाल-भात बनाने को कह दिया। उसने कहा कि थोड़ा समय लगेगा। हमने ख़ूब समय लगाने की मंज़ूरी दे दी। इससे वह इतनी ख़ुश हुई कि उसने हमारे सामने एक कप काली चाय लाकर रख दी। एक कप काली चाय क़रीब 100 रुपये की थी और हमारी इच्छा भी नहीं थी। हमने एक-दूसरे को देखा कि बिना ऑर्डर दिए इन्होंने हमारे सामने काली चाय लाकर रख दी। मालकिन हमारा भाव समझ गई और बड़ी प्यारी आवाज में हिंदी-नेपाली के मिश्रण में कहा, "आपको दाल-भात के लिए वेट करनी पड़ेगी, तो यह हमारी तरफ से आपको बिल्कुल फ़्री है। इसके हम कोई पैसे नहीं लेंगे।"

'फ़्री' सुनते ही मन ख़ुश हो गया, "फ़्री है तो लाओ, पी लेंगे।"

इम्जा खोला के पुल पर मोबाइल का (एनसेल का) नेटवर्क मिल गया। नेटवर्क मिलते ही कोठारी जी का फ़ोन आ गया। वे अपनी बाक़ी की यात्रा रद्द करके जयपुर पहुँच गए थे। हमारे घरवाले भी कई दिनों से नेटवर्क न होने के कारण चिंतित थे और उन्होंने सभी यार-दोस्तों को फ़ोन कर दिया था कि हमारी कोई ख़बर नहीं मिल रही। हमें घरवालों से ज़्यादा यार-दोस्त जानते हैं, तो सभी ने उन्हें तसल्ली दी कि उन्हें कुछ नहीं होगा। दुर्गम इलाक़ा है, नेटवर्क नहीं आ रहा होगा। आज घरवालों की भी तसल्ली कर दी कि एकाध दिन छोड़कर

अब तो रोज़ ही हम नेटवर्क में रहेंगे।

अब रास्ता इम्जा खोला के बाएँ किनारे पर था। सामने ऊपर पहाड़ी की धार पर तेंगबोचे भी दिखने लगा था। उसके नीचे जंगल में देबोचे भी दिख रहा था। देबोचे 3680 मीटर की ऊँचाई पर है और घने जंगल में स्थित है। यहाँ भी कई होटल हैं। इसके बाद तेंगबोचे की चढ़ाई शुरू हो जाती है। बारिश हो जाने के कारण रास्ते में फिसलन हो गई थी। देबोचे से तेंगबोचे का रास्ता काफ़ी चौड़ा है। मैराथन धावक भी इस चढ़ाई पर हाँफते हुए धीरे-धीरे चलते रहे।

लगभग 3800 मीटर की ऊँचाई पर तेंगबोचे मोनेस्ट्री स्थित है। यह इस इलाक़े की एक मुख्य मोनेस्ट्री है। यह वैसे तो थ्याँगबोचे है, लेकिन अँग्रेज़ी उच्चारण के कारण तेंगबोचे, टेंगबोचे और टिंगबोचे भी कह दिया जाता है। एवरेस्ट के उत्तर में तिब्बत में एक मोनेस्ट्री है- रोंगबुक मोनेस्ट्री। पहले रोंगबुक ही इस पूरे इलाक़े की मुख्य मोनेस्ट्री हुआ करती थी, लेकिन तिब्बत पर चीनी आधिपत्य और मोनेस्ट्री के तहस-नहस हो जाने के बाद वहाँ के प्रधान लामा समेत सभी लामा थ्याँगबोचे आ गए और अब रोंगबुक का दर्ज़ा थ्याँगबोचे को मिल गया। कहते हैं कि इसके प्रधान लामा भी ठीक उसी तरह चुने जाते हैं, जिस तरह दलाई लामा।

थ्याँगबोचे में भी एक मैराथन कैंप लगा था, ठीक मोनेस्ट्री के सामने। अब तक धावक 32.6 किलोमीटर आ चुके होते हैं। शाम के चार बज चुके थे और अभी भी धावक आ रहे थे। इस मैराथन में जो विजेता बना था, उसने बेसकैंप से नामचे बाज़ार तक पहुँचने में केवल चार घंटे ही लगाए थे अर्थात सुबह दस बजे ही वह नामचे पहुँच गया होगा। कुछ वृद्ध महिलाएँ आराम करती मिलीं, जो मैराथन में हिस्सा ले रही थीं। लेकिन इनसे भी बढ़कर एक वृद्ध दंपत्ति मिले, जिनकी आयु 80 से ऊपर रही होगी। वे दो-दो ट्रैकिंग स्टिक के सहारे चल रहे थे और इस दौड़ को पूरा करने की कोशिश कर रहे थे। बारिश बंद हो जाने के बाद एक इंद्रधनुष बन गया था। ये दोनों बार-बार रुककर अपना कैमरा निकालते, इंद्रधनुष के फ़ोटो खींचते, कुछ देर उसे देखते रहते और उसमें खो जाते। फिर कैमरा वापस रखकर चलने लगते।

इन्हें देखकर मुझे अपने देश के बूढ़े याद आ गए। उनके बारे में लिखने की आवश्यकता नहीं।

3275 मीटर की ऊँचाई पर फुंगी थेंगा है। यहाँ इम्जा खोला नदी दूधकोसी में मिल जाती है। दूधकोसी के ऊपर एक सस्पेंशन पुल बना है। हम साढ़े पाँच बजे यहाँ थे। यहीं दुकान पर ताज़ी कोल्ड-ड्रिंक देखीं यानी अभी तक यह एक्सपायर नहीं हुई थी, इसलिए इसे पीने का मोह नहीं त्याग सके। ताजी कोल्ड-ड्रिंक बड़ी दुर्लभ है यहाँ।

फुंगी थेंगा से चढ़ाई शुरू हो जाती है। अच्छी-ख़ासी चढ़ाई है। सवा छ: बजे लौसासा पहुँचे। यहाँ जो कैंप था, उससे पता चल रहा था कि धावक 36.1 किलोमीटर आ चुके हैं। यहाँ के कर्मचारी अच्छी हिंदी जानते थे। हमने मैराथन से संबंधित सभी काग़ज़ात देखे। पता चला कि 250 के आसपास धावकों ने इसमें हिस्सा लिया था, जिनमें से कुछ ने इसे हाफ़ मैराथन में बदलवा लिया, कुछ ने रेस बीच में छोड़ दी और 15 के आसपास धावक

और बचे हैं, जो अपनी दौड़ पूरी कर रहे हैं। ज़ाहिर है कि ये 15 धावक हमसे पीछे हैं। इन्हें दौड़ का यह आख़िरी भाग अँधेरे में पूरा करना पड़ेगा।

सात बजे जब अँधेरा हो चुका था, गोक्यो वाले मोड़ पर पहुँचे। यहाँ पर गोक्यो से आने वाला रास्ता मिल जाता है। हम कुछ दिन पहले इसी से गोक्यो गए थे। यहाँ भी एक कैंप था और ठीकठाक चहल-पहल थी। आग जली हुई थी और रोशनी का भी प्रबंध था। हम नज़दीक गए तो दो लड़के पानी की बोतल लेकर हमारी ओर दौड़े। उन्होंने सोचा कि हम धावक हैं। पास जाने पर खुलासा हुआ। हमारे पास पानी था, इसलिए लेने से मना कर दिया। यहाँ पहली बार नेपाल पुलिस के जवान भी मिले।

गोक्यो से भी नामचे बाज़ार तक मैराथन हो रही थी। हमें गोक्यो वाली मैराथन की जानकारी नहीं थी, यहाँ आकर पता चला। यानी आज ऊपरी खुंबू मैराथन-मय हो रहा था। एवरेस्ट के प्रथम आरोहण का जश्न मना रहा था। इसी आरोहण के कारण आज खुंबू विश्वभर में प्रसिद्ध है, अन्यथा नेपाल की बाक़ी घाटियों की तरह यह भी गुमनाम ही रहता।

आगे का पूरा रास्ता जो 4-5 किलोमीटर रहा होगा, अँधेरे में तय करना पड़ा। टॉर्च हमारे पास थी, जला ली। घने बादल होने के कारण कई बार भ्रम भी हो जाता। टॉर्च न होती तो हम इसी भ्रम के कारण नीचे खाई में भी गिर सकते थे। इस दौरान कुछ धावक हमसे आगे भी निकले। भले ही वे बाकी पथ में न दौड़े हों, लेकिन इस आख़िरी भाग में दौड़ रहे थे।

रात पौने नौ बजे नामचे बाज़ार पहुँचे। जहाँ से खुमजुंग और खुंडे के लिए रास्ता जाता है, वहाँ दौड़ समाप्ति की झंडी लगी थी। एक लड़के की ड्यूटी भी लगी थी। किसी धावक को अगर वह झंडी न दिखे तो वह दौड़ता ही चला जाता। उसका काम उन्हें रोकने का था। अँधेरा होने के कारण उसने भी हमें धावक समझा और अँग्रेज़ी में दौड़ समाप्ति की सूचना दी। हमने मुस्कुराकर अपने धावक न होने के बारे में बताया और 'थैंक्यू' भी कहा।

ऊपर खुमजुंग गाँव में जहाँ एडमंड हिलेरी का बनवाया स्कूल और अस्पताल हैं, मैराथन से संबंधित कार्यक्रम आयोजित होते हैं। वहीं दौड़ के विजेता को पुरस्कार दिया जाता है। हमारा क्या काम था वहाँ!

सीधे 'फ़ैमिली लॉज' में पहुँचे। उन्होंने हमें पहचान लिया। फ़्री मोबाइल-कैमरा चार्जिंग की बात हो गई। कई दिनों से कुछ स्वादिष्ट खाने की इच्छा थी। वह इच्छा आज यहाँ पूरी हुई- 'पनीर पिज़्ज़ा' और 'पोटैटो चिप्स चिली' चाय के साथ खाकर। 550 रुपये का पनीर पिज़्ज़ा था, 450 रुपये की पोटैटो चिप्स चिली।

'घर आ जा परदेसी, तेरा देस बुलाये रे' की भावना अब ज़ोर पकड़ने लगी थी। यदि हमारा मोटरसाइकिल का बंधन न होता, तो हम लुकला से फ़्लाइट पकड़ लेते। लेकिन बाइक के लिए लुकला से भी बड़ी दूर ताकशिंदो-ला तो ज़रूर जाना पड़ेगा। रास्ता हमारा देखा हुआ था ही। वादा किया कि कल दूरी तय करने के लिए जी-जान लगा देंगे।

रजाई में मुँह घुसाया और सो गए। अब हम पिछली बार की तरह 'हाई एल्टीट्यूड' पर नहीं थे, बल्कि 'लोवर एल्टीट्यूड' पर थे। अच्छी नींद आई।

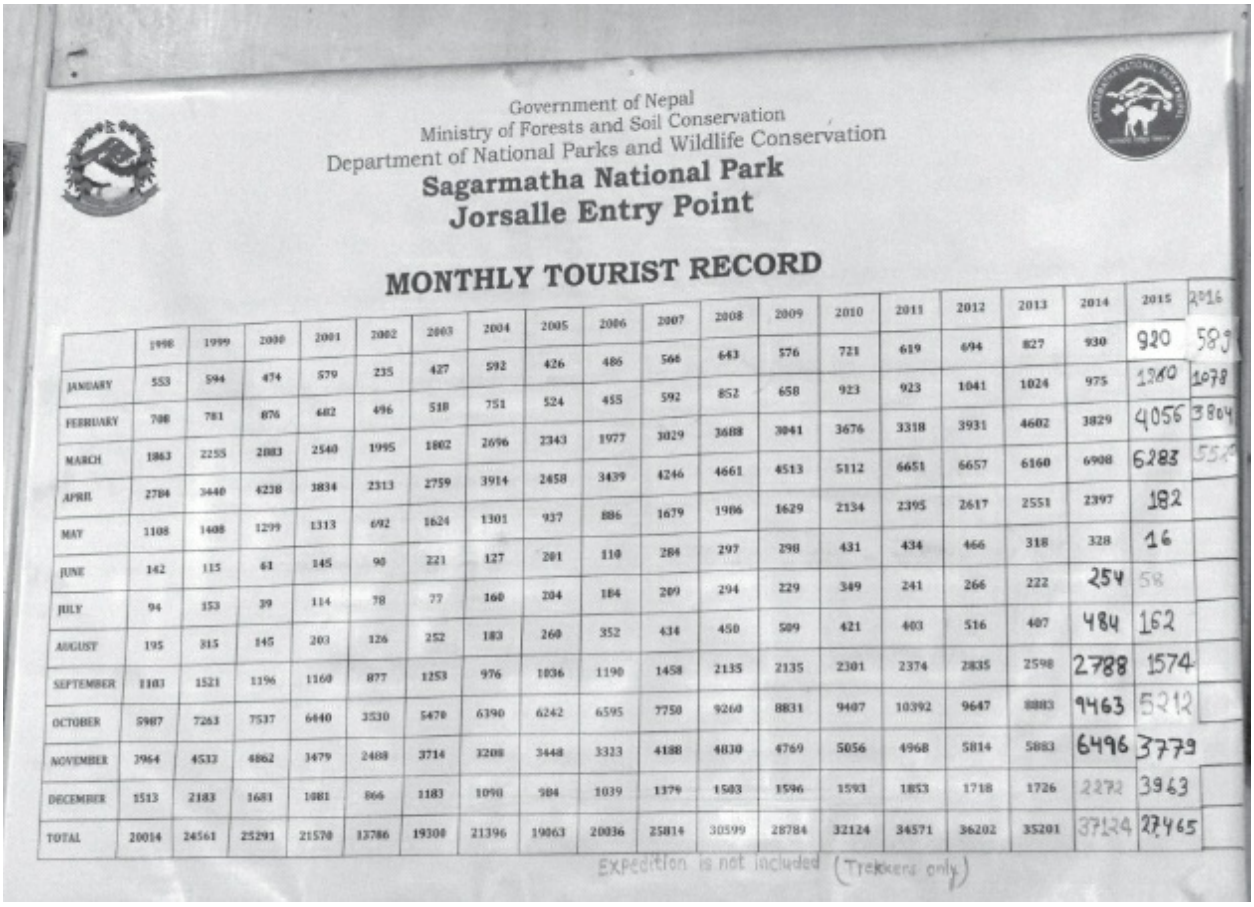

Government of Nepal
Ministry of Forests and Soil Conservation
Department of National Parks and Wildlife Conservation
Sagarmatha National Park
Jorsalle Entry Point

MONTHLY TOURIST RECORD

	1998	1999	2000	2001	2002	2003	2004	2005	2006	2007	2008	2009	2010	2011	2012	2013	2014	2015	2016
JANUARY	553	594	474	579	235	427	592	426	486	566	643	576	721	619	694	827	930	920	589
FEBRUARY	708	781	876	682	496	518	751	524	455	592	852	658	923	923	1041	1024	975	1260	1078
MARCH	1863	2255	2883	2540	1995	1802	2696	2343	1977	3029	3688	3041	3676	3318	3931	4602	3829	4056	3804
APRIL	2784	3440	4238	3834	2313	2759	3914	2458	3439	4246	4661	4513	5112	6651	6657	6160	6908	6283	554
MAY	1108	1408	1299	1313	692	1624	1301	937	886	1679	1906	1629	2134	2395	2617	2551	2397	182	
JUNE	142	115	61	145	90	221	127	201	110	284	297	298	431	434	466	318	328	16	
JULY	94	153	39	114	78	77	160	204	184	209	294	229	349	241	266	222	254	58	
AUGUST	195	315	145	203	126	252	183	260	352	434	450	509	421	403	516	407	484	162	
SEPTEMBER	1103	1521	1196	1160	877	1253	976	1036	1190	1458	2135	2135	2301	2374	2835	2598	2788	1574	
OCTOBER	5987	7263	7537	6640	3530	5470	6390	6242	6595	7750	9260	8831	9407	10392	9647	8883	9463	5212	
NOVEMBER	3964	4533	4862	3479	2488	3714	3208	3448	3323	4188	4830	4769	5056	4968	5814	5883	6496	3779	
DECEMBER	1513	2183	1681	1081	866	1183	1090	984	1039	1379	1503	1596	1593	1853	1718	1726	2272	3963	
TOTAL	20014	24561	25291	21570	13786	19300	21396	19063	20036	25814	30599	28784	32124	34571	36202	35201	37124	27465	

Expedition is not included (Trekkers only)

बाईसवाँ दिन: नामचे बाज़ार से छेपलुंग

30 मई **2016**

कल हम 30 किलोमीटर से भी ज़्यादा चले थे। परसों भी काफ़ी चले थे और उससे पहले दिन चो-ला पार किया था। थकान का आलम यह था कि सुबह दस बजे सोकर उठे। जमकर नींद आई। भले ही भारत लौटने की उत्कट इच्छा हो, लेकिन तन और मन के आराम से कोई समझौता करना ठीक नहीं लगा।

साढ़े ग्यारह बजे नामचे बाज़ार से चल दिए। सभी दुकानें खुली थीं। रास्तों पर साफ़-सफ़ाई थी और दुकानदार ग्राहकों की प्रतीक्षा कर रहे थे। शोर-शराबा बिल्कुल नहीं था। भीड़ भी नहीं। मुझे नेपाल का एक बड़ा नक़्शा लेना था। यदि हम काठमांडू जाते, तो वहीं से ले लेते। लेकिन अब हमें काठमांडू नहीं जाना था, इसलिए यहीं से एक नक़्शा ले लिया। 500 रुपये का नक़्शा था, मोलभाव होते-होते 200 का मिल गया। इस दुकान पर नेपाल के अलग-अलग भागों के अच्छे नक़्शे थे। जी कर रहा था कि सारे नक़्शे उठा लूँ। लेकिन फ़िलहाल पूरे नेपाल की सड़कें, ट्रैकिंग रास्ते और अन्य कई चीज़ें दर्शाता यह नक़्शा मेरे सर्वाधिक काम का था, इसलिए यही लिया।

नामचे बाज़ार से निकलते ही पुलिस चेक-पोस्ट है। मेरी शक्ल नेपालियों से मिलती-

जुलती लग रही थी, तो उन्होंने कुछ नहीं कहा। लेकिन जब हम पानी भर रहे थे, तो उन्होंने नेपाली में कुछ बात की, जो मेरी समझ में नहीं आई। तब उन्हें पता चला कि हम भारतीय हैं। हमारे परमिट माँगे। देखकर कहने लगे कि आप जब नामचे बाज़ार गए थे, तो यहाँ एंट्री क्यों नहीं कराई? हमने कहा कि आपका यह ऑफ़िस बंद था। ख़ैर, उन्होंने अपने कंप्यूटर में सारी एंट्री की और 'थैंक्यू' कहते हुए जाने को कह दिया।

रास्ता ढलानदार है। हम तेज़ी से नीचे उतर रहे थे। हमारे साथ ही नेपाली-सा दिखने वाला एक लड़का और भी चल रहा था। उसने हमसे हिंदी में पूछा- "आप लोग कहाँ से आए हैं?"

"दिल्ली से।"

"अरे वाह! मैं भी भारतीय हूँ। लद्दाख से।"

'मैं भी भारतीय हूँ लद्दाख से' यह सुनते ही जो ख़ुशी हुई, उसे बयाँ नहीं कर सकता। एक ही साँस में मैंने उस पर कई प्रश्न उडेल डाले। वह भारतीय सेना के एवरेस्ट अभियान का एक हिस्सा था। उसने कल मैराथन में भाग भी लिया था। आठवाँ स्थान हासिल किया। इस दल में बाक़ी सभी उच्चाधिकारी थे, अकेला यही निचले दर्जे का था। नाम था मुरुप दोरज़े।

इसी ढलान पर एक स्थान ऐसा आता है, जहाँ से साफ़ मौसम में एवरेस्ट दिखती है। मौसम साफ़ भी था, लेकिन एवरेस्ट की तरफ़ बादल थे। एक चोटी अवश्य दिख रही थी, लेकिन दोरज़े ने कहा कि वह एवरेस्ट नहीं है।

इसके बाद तो बड़ी देर तक और बड़ी दूर तक हम साथ ही रहे। थोड़ा ही पीछे उसके सभी अफ़सर आ रहे थे। शायद वह अफ़सरों के साथ न रहना चाहता हो। वैसे भी दिन-रात अपने अफसरों के साथ रहना सहज नहीं होता, सेना हो या कोई और क्षेत्र हो। पता नहीं कितने दिनों बाद उसे अफ़सरों से दूर रहने का मौक़ा मिला और वह इस मौके का पूरा आनंद ले रहा था। हम रुक जाते, वह भी रुक जाता। बातें तो अनवरत होती ही रहीं। आख़िर लद्दाख मेरी भी पसंदीदा जगह है। वह अक्सर पर्वतारोहण पर जाता रहता है। उसने हमें लद्दाख में स्टोक काँगड़ी जाने का सुझाव दिया। वह स्वयं पता नहीं कितनी बार वहाँ जा चुका था।

दोरज़े ने शेरपाओं के बारे में कहा, "ये लोग बौद्ध हैं, लेकिन धर्म-कर्म बिल्कुल भी नहीं करते। व्यावसायिकता में पूरे डूब चुके हैं।" बात भी सही थी। लद्दाख मतलब 'जुले' लेकिन यहाँ 'जुले' जैसा कुछ भी नहीं। गौरतलब है कि लद्दाख और खुंबू दोनों ही तिब्बती संस्कृति वाले क्षेत्र हैं।

डेढ़ बजे ज़ोरसले पहुँचे। जिस होटल में जाते समय हमने दाल-भात खाये थे, उसी में रुक गए और चाय-बिस्कुट के लिए बोल दिया। मालकिन बड़ी हँसमुख थी, हिंदी नहीं समझती थी, लेकिन हिंदी फ़िल्में ख़ूब देखती थी। हम कुछ दिन पहले उनका फ़ोटो खींचकर गए थे, उन्हें याद था। दोरज़े नेपाली भाषा तो नहीं जानता था, लेकिन लद्दाखी होने के कारण तिब्बती अवश्य जानता था। खुंबू में भी तिब्बती बोलते हैं, थोड़े-से अंतर के साथ। काम चल गया। हमारा और मालकिन का संवाद हो गया। इससे वह जो ख़ुश हुई, उसका अंदाज़ा

इसी बात से लगाया जा सकता है कि उसने हम तीनों को एक-एक कप दूध की चाय का दूसरा प्याला 'फ़्री-फ़्री' कहते हुए पकड़ा दिया।

कल काली चाय फ़्री मिली थी, आज दूध की चाय फ़्री मिली। लगा कि खुंबू में अभी भी बौद्ध धर्म बचा हुआ है।

ज़ोरसले से निकलते ही सागरमाथा नेशनल पार्क का द्वार है। कर्मचारियों ने हमारे परमिट चेक किए और उन पर 'एक्जिट' लिख दिया। दोरज़े के पास परमिट नहीं था। इनका पूरे दल का परमिट किसी एक उच्चाधिकारी के पास था। थोड़ी देर प्रतीक्षा की। वे लोग आए तो उनमें मेरठ के वे अधिकारी भी थे, जिनसे हम बेसकैंप पर मिले थे। देखते ही पहचान गए और शाबाशियाँ दीं।

हमने दोरज़े से पूछा कि आप भारतीय सेना में हो, तो क्या आपको भी पर्वतारोहण करने के लिए यहाँ से परमिट लेना पड़ा था? जबकि भारतीय सेना में बड़ी संख्या में नेपाली भी होते हैं और दूसरी बात, एवरेस्ट चढ़ने के लिए काठमांडू से अनिवार्यत: परमिट बनवाना पड़ता है और भारी-भरकम पैसे भी देने होते हैं। दोरज़े ने बताया कि काठमांडू से भी परमिट बनवाना पड़ता है और यहाँ से भी।

यह तो ग़लत बात है।

साढ़े तीन बजे टोक-टोक खोला पहुँचे। दोरज़े ने कोल्ड ड्रिंक पिलाने का आग्रह किया। बड़ी मुश्किल से ताज़ी कोल्ड ड्रिंक ढूँढ़ी। काँच के गिलासों में एक-एक घूँट पीते रहे और बतियाते रहे।

थोड़ा ही आगे दोरज़े से विदा लेनी पड़ी। उसके सभी अधिकारी यहीं रुक गए थे। इस दल को आज केवल लुकला तक ही जाना था। कल काठमांडू की फ़्लाइट पकड़ेंगे। लेकिन हमें बहुत दूर जाना था, इसलिए इनकी प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे।

मौसम ख़राब होने लगा और साढ़े पाँच बजते-बजते बारिश भी हो गई। हम थोड़े-से बारिश में भीगे, फिर रुकने का निश्चय कर लिया। छेपलुंग में 'छेपलुंग गेस्ट हाउस' में फ़्री में रुकने की बात हो गई। इसमें अच्छी बात यह थी कि डाइनिंग रूम से कमरों तक जाने का रास्ता रसोई से होकर जाता था। अन्यथा इस ट्रैक में रसोई में जाना नसीब नहीं होता। दो-तीन बच्चे थे, जिन्होंने ऊधम मचा रखा था। हमने कैमरा और मोबाइल रसोई में चार्जिंग पर लगा दिए। बच्चे इन्हें छेड़ने लगे तो कैमरा ऑन हो गया और इसका लेंस थोड़ा-सा बाहर निकल गया। बच्चे डर गए और इसे ऑन ही छोड़कर भाग गए। बाद में उनकी माँ ने उन्हें खूब डाँटा। इसके बाद सुबह तक उन्होंने कुछ नहीं छेड़ा।

अच्छा नेटवर्क आ रहा था, लेकिन नेट का रिचार्ज ख़त्म हो गया था। असल में इंटरनेट चलाने का एक साप्ताहिक प्लान मैंने एक्टिवेट किया हुआ था। गोक्यो और बेसकैंप में नेटवर्क नहीं आए, तो यह प्लान बिना इस्तेमाल किए ही 'एक्सपायर' हो गया। यहाँ छेपलुंग में पास की एक दुकान पर 100 रुपये का स्क्रैच कार्ड 140 रुपये में मिल रहा था। मैं 280 के दो कार्ड ले आया और आते ही 200 रुपये का रिचार्ज कर दिया। साथ ही फिर से वही साप्ताहिक प्लान भी एक्टिवेट कर लिया। अब मोबाइल में नेटवर्क लगातार आता रहेगा, इसलिए इंटरनेट चलाकर यार लोगों के संपर्क में भी रहूँगा।

आज हम नामचे बाज़ार से बहुत देर से चले थे, इसलिए शाम होते-होते छेपलुंग ही पहुँच सके। अन्यथा सुरके या पैंया-ला तक तो पहुँच ही जाते। लेकिन साथ ही यह भी सच है कि लगातार चलते रहने से, चलते ही रहने से मानसिक और शारीरिक दोनों थकान होती है। एक सीमा के बाद पैर अपने ही आप कहने लगते अब, बस और नहीं। रुकने के ठिकाने हर जगह मौजूद हों, तो यह भावना जल्दी होने लगती है। अगर रुकने का ठिकाना दस किलोमीटर आगे होता, तो थकान होने के बावजूद भी दस किलोमीटर और चलना पड़ता।

आप जहाँ भी थक जाएँगे, वहीं एक होटल होगा और काफ़ी संभावना है कि आप वहीं रुक भी जाएँगे।

वास्तव में बेसकैंप की यात्रा शारीरिक होने के साथ-साथ मानसिक भी है।

आज लेटते ही नींद नहीं आई। देर तक गाने सुनते रहे और प्रत्येक गाने के साथ घर पहुँचने की इच्छा भी बलवती होती गई। हमेशा की तरह एक झूठा वादा किया, सुबह जल्दी उठेंगे।

तेईसवाँ दिन: छेपलुंग से खारी-ला

31 मई **2016**

जैसा सोचा था, वैसा हुआ नहीं और आँख खुली नौ बजे। एक गैलरी के दोनों तरफ़ छ: कमरे थे। मुख्य दरवाजा गैलरी में था और उसे हमने बंद कर रखा था। कोई और यात्री यहाँ नहीं ठहरा था। होटल मालिक ने भी कोई जल्दबाजी नहीं की, हमें उठाने में। हिसाब लगाया कि आज खारीखोला तक तो पहुँच ही जाएँगे। सुरके से पैंया-ला की चढ़ाई हमें डरा रही थी।

अगर ताकशिंदो-ला पर खड़ी मोटरसाइकिल का बंधन न होता, तो हम भी लुकला ही जाते और वापसी फ़्लाइट से करते। फ़्लाइट में सात-आठ हज़ार रुपये लगते, उससे ज़्यादा तीन-चार दिनों में अब ख़र्च हो जाएँगे। आने से पहले लगता था कि फ़्लाइट से जाना महँगा होता होगा, फाफलू या जीरी से पैदल जाना सस्ता पड़ेगा। लेकिन अब सब पता चल गया था। फ़्लाइट से आने-जाने में समय तो बचता ही है, जेब भी बचती है।

सुरके पुल लगभग 2250 मीटर की ऊँचाई पर स्थित है। यहाँ से पैंया-ला की चढ़ाई आरंभ हो जाती है, जो 2700 मीटर से भी ऊपर तक जाती है। चढ़ाई निःसंदेह ज़ोरदार है। फिर घना वर्षावन और खच्चरों की सेना चलने में और भी परेशानी पैदा करते हैं। हालाँकि अब थकान नहीं हो रही थी। इतने दिनों से खुंबू में रहने के कारण हमें भी शेरपाओं जैसी 'फ़ीलिंग' आ रही थी और हम पसीने से लथपथ होने के बावजूद भी अच्छी रफ़्तार से ऊपर चढ़े।

ढाई बजे पैंया-ला पहुँचे। सुरके से यहाँ तक की 450 मीटर की ऊँचाई दो घंटे में तय कर ली, जो अच्छी रफ़्तार कही जाएगी। फ़ोटो खींचने का लालच नहीं था। प्राकृतिक नज़ारों के फ़ोटो हम कुछ दिन पहले ले चुके थे, बाक़ी तात्कालिक फ़ोटो लेने की इच्छा नहीं हुई। जल्द से जल्द ट्रैकिंग समाप्त करके देस की तरफ़ दौड़ लगा देनी है।

पैंया पुल पार करके फिर से वर्षावन में प्रवेश कर गए। यह घना जंगल है और सन्नाटे में आपको डर भी लग सकता है। इसलिए इस ट्रैक का सर्वोत्तम खंड है। लेकिन ज़मीन पर धूप न लगने, लगभग रोज़ वर्षा होने और खच्चरों की लीद-मूत के कारण दुर्गंध व मक्खी-मच्छर रहते हैं, इसलिए यह इस ट्रैक का सबसे ख़राब भाग भी है।

लेकिन आज इस रास्ते के बड़े बुरे हाल थे। पुल से लेकर खारी-ला तक कीचड़-ही-कीचड़ मिला। रास्ते में ख़ूब फिसलन थी और बड़ा संभलकर चलना पड़ रहा था। लगभग चार किलोमीटर की दूरी तय करने में डेढ़ घंटे से भी ज़्यादा लग गया। आख़िरी एक किलोमीटर तो बड़ा रो-रोकर तय हुआ। बार-बार मनाते कि जल्द से जल्द खारी-ला आए और हमें इस भीषण कीचड़ से निज़ात मिले।

शाम सवा छ: बजे 2800 मीटर ऊँचे खारी-ला पहुँचे। सोनम लॉज में रुकने का निश्चय कर लिया। हालाँकि यहाँ से बुपसा दिखाई देता है। रास्ता ढलान वाला भी है, लेकिन वहाँ पहुँचने में एक घंटे से भी ज़्यादा लगेगा। ज़्यादा कीचड़ मिलने की संभावना तो नहीं है, लेकिन कौन जाने कि कितना कीचड़ हो? अँधेरा हो जाएगा और हम कीचड़ में अँधेरे में नहीं चलना चाहते थे। फ्री में रुकने की बात भी की, लेकिन बात बनी नहीं। कमरा 200 रुपये का था।

खारी-ला एक बेहतरीन लोकेशन है। अँधेरा हो जाने के बाद बुपसा और खारीखोला की बत्तियाँ अच्छी लग रही थी। बत्तियाँ तो यहाँ से आसमान की भी अच्छी लगतीं, बशर्ते बादल न होते। वास्तव में हमारी यह यात्रा बादलों के ही नाम रही। उन्होंने इस दौरान जमकर खिलंदरी की और हमें एवरेस्ट तक नहीं देखने दी। जब मैं जूते उतारकर नंगे पैर काँपता हुआ ठिठुरता हुआ बाहर खुले में पैर धोने जा रहा था, तो थोड़े-से बरस भी गए। मानों ये भी पैर धुलाने की कोशिश कर रहे हों। मैंने यहीं से हाथ उठाकर इन्हें रोका, “ओए, रुक जाओ थोड़ी देर। सिर भीग जाएगा, तो मुझे मुझे बुखार चढ़ जाएगा।” लेकिन उन पर कोई असर नहीं पड़ा।

80 रुपये का एक उबला अंडा था। मन किया, ले लिया। इसके अलावा एक प्लेट दाल-भात और एक प्लेट फ़्राइड पोटैटो ले लिए। मैंने और दीप्ति ने मिल-बाँटकर खा लिए।

चौबीसवाँ दिन: खारी-ला से नुनथला

1 जून **2016**

आज का उद्देश्य था ताकशिंदो-ला तक पहुँचना। अभी हम 2800 मीटर की ऊँचाई पर थे। पहले तो नीचे 1500 मीटर तक उतरना है, फिर 3000 मीटर तक चढ़ना है। यह आसान नहीं है। दूरी भी काफ़ी है। लेकिन इतने दिन लगातार ट्रैकिंग करते-करते हम भी 'शेरपा' बन गए थे और हमें अब चलते हुए उतनी थकान भी नहीं होती थी। कल जब सुरके से पैंया-ला तक चढ़ रहे थे, तो हम चढ़ते ही गए थे। लग रहा था कि आज भी ऐसे ही चढ़ जाएँगे। चाहे अँधेरा हो जाए, लेकिन ताकशिंदो-ला पहुँचना ही है। आज ट्रैकिंग समाप्त कर ही देनी है। कल मोटरसाइकिल पर विराजमान होना है। बहुत लंबी ट्रैकिंग हो गई है। अब बस यह किसी तरह ख़त्म हो।

चाय-बिस्कुट खाकर सुबह सात बजकर पचास मिनट पर चल दिए। रास्ता ढलान वाला है। कई जगह कीचड़ भी मिला, लेकिन ज़्यादातर रास्ता साफ़ ही था। डेढ़ घंटा लगा बुपसा पहुँचने में। इधर से जाते समय हम एक रात बुपसा भी रुके थे। यही वो जगह थी, जहाँ हम पहली बार फ़्री में रुके थे। वह महिला जिसने हमें कहा था कि रुकना फ़्री है, अपने होटल के सामने खड़ी थी। पहचान गई। दोनों तरफ़ से मुस्कुराहटों का आदान-प्रदान हुआ।

ग्यारह बजे खारीखोला 'हिल टॉप लॉज' में पहुँचे। जाते समय भी हमने यहाँ लंच किया था। हम पंद्रह दिन बाद यहाँ लौटे थे। इसके बावजूद भी मालकिन को याद था। रोज़ यहाँ से इतने ट्रैकर्स गुज़रते हैं, फिर भी इन्हें याद रहा।

इनकी जगह हम होते, तो अगले ही दिन भूल गए होते।

खारीखोला से जुभिंग तक बड़ा तेज़ ढलान है। दीप्ति तो इस ढलान पर ऐसी चली कि शीघ्र ही मेरी नज़रों से ओझल हो गई। लेकिन जाएगी कहाँ? मिलेगी जुभिंग में उसी जगह पर।

रास्ते में एक विदेशी और एक भारतीय ट्रैकर मिले। भारतीय का नाम शायद साहिल था और वह नोएडा का रहने वाला था। ये दोनों एवरेस्ट मैराथन में भाग लेकर लौट रहे थे। इन्हें वैसे तो लुकला से फ़्लाइट से काठमांडू जाना था, लेकिन दो दिनों से मौसम ख़राब होने के कारण कोई भी वायुयान नहीं उड़ सका। विदेशी की काठमांडू से कल दोपहर की फ़्लाइट थी, जिसे वह किसी भी हालत में नहीं छोड़ सकता था। इस समय उसके पास काठमांडू पहुँचने के लिए केवल चौबीस घंटे ही शेष थे। मौसम कब तक सामान्य होगा, कब उड़ानें नियमित होंगी, इसकी प्रतीक्षा न करते हुए उसने फाफलू पहुँचने का जो निर्णय लिया था, वो एकदम ठीक निर्णय था।

मैंने इन्हें यहाँ से फाफलू तक की सारी भौगोलिक स्थिति समझा दी। सामने ताकशिंदो-ला दिख रहा था। जब उन्हें बताया कि वो दर्रा पार करना है, तो निराशा साफ़ देखी जा सकती थी। यहाँ 1600 मीटर पर खड़े होकर 3000 मीटर ऊँचा दर्रा वास्तव में डरा रहा था। जिसके पास समय हो, उसे डरने की जरुरत नहीं होती। लेकिन जिसके पास समय न हो, जो मानकर चल रहा हो कि फाफलू तक सारा रास्ता ढलान वाला ही है; वह वास्तव में निराश हो जाएगा।

इन्होंने फाफलू में एक टैक्सी तैयार कर रखी थी। ये लोग जब भी फाफलू पहुँचेंगे, चाहे रात हो जाए या आधी रात या सुबह, वह इन्हें लेकर तुरंत काठमांडू के लिए चल देगी। मैंने सुझाव दिया कि टैक्सी फाफलू से भी इधर रिंगमो तक आ सकती है। आप टैक्सी वाले को रिंगमो बुला लो। आपको दस किलोमीटर कम पैदल चलना पडेगा।

दीप्ति वहीं मिली। उसने अपने बाल धो लिए थे, नहा भी ली थी और इस समय कपड़े धो रही थी। अच्छी धूप निकली थी, कपड़े थोड़ी ही देर में सूख जाएँगे। मैं भी नहा लिया। एक पाइप में रुक-रुककर पानी आ रहा था। ठंडा पानी था, लेकिन मुझे यह सामान्य ही लगा। एक तो हिमालय में 1500 मीटर तक की ऊँचाई पर मई-जून में ख़ूब गर्मी लगती है, फिर ऊपर बेसकैंप से लौटकर हमें और भी ज़्यादा गर्मी लग रही थी। मन कर रहा था कि शाम तक यहीं नहाता रहूँ।

हमारी ख़ुशी और सुकून को देखकर इस घर के सदस्य भी बड़े ख़ुश थे। यहीं वो घर था, जहाँ से हमने पाँच रुपये प्रति आड़ू के भाव से सत्रह आड़ू ले लिए थे। आज भी आड़ू के बारे में पूछा, लेकिन यहाँ नहीं मिले। दूसरी दुकानों पर बीस के भाव में बिक रहे थे।

डेढ़ बजे यहाँ से चल दिए और पंद्रह मिनट में ही दूधकोसी के सस्पेंशन पुल पर पहुँच गए। नदी पार की और ताकशिंदो-ला की महा-चढ़ाई शुरू कर दी।

लेकिन पंद्रह-सोलह दिनों की ट्रैकिंग का नतीजा था कि आज न थकान हुई और न साँस फूली। हम 300 मीटर प्रति घंटे की रफ़्तार से ऊपर चढ़े। यह वास्तव में बहुत तेज़ रफ़्तार होती है। पसीना ख़ूब आ रहा था, प्यास ख़ूब लग रही थी, लेकिन थकान नहीं हुई; न मुझे और न ही दीप्ति को। चलने में आनंद भी आ रहा था। ताकशिंदो-ला का काउंट-डाउन शुरू हो गया था। गणना करने से अंदाज़ा लग गया कि रात आठ-नौ बजे तक ताकशिंदो-ला पहुँच जाएँगे।

साढ़े चार बजे नुनथला पहुंच गए। यहाँ होटलों की कोई कमी नहीं। ख़ूब चौड़ी पगडंडी है और दोनों तरफ़ कतार में होटल हैं। ऐसा लगता है जैसे नुनथला बस अड्डा हो। लेकिन यहाँ हम आराम करने बैठे तो बैठे ही रह गए। विचार परिवर्तन हुआ तो यहीं रुकने का निर्णय ले लिया। रात आठ-नौ बजे तक ताकशिंदो-ला पहुँचने का मतलब है कि अँधेरे में चलना पड़ेगा। छोड़ो यार, यहीं रुक जाते हैं।

डाइनिंग रूम में आ बैठे। खच्चरों वाले तीन शेरपा भी बैठे थे। उन्हें भी वही दाल-भात दिया, जो हमें। लेकिन उनके लिए यह बेहद सस्ता था। दीप्ति ने कहा, “काश! हम भी शेरपा होते।” मैंने कहा, “हाँ, सस्ते दाल-भात मिलते और पूरे दिन खच्चर हाँकते रहते।”

आज जब ‘आरती’ सुनी, तो कुछ अलग-सा महसूस हुआ। हम मोटरसाइकिल से केवल

तीन घंटे ही दूर थे। हम जगे हुए ही सपने देखने लगे थे कि मोटरसाइकिल पर बैठ गए हैं और जनकपुर पहुँच गए हैं। जनकपुर से सीमा पार करके सीतामढ़ी और अपने देश में। दीप्ति ने मना किया, “नहीं, बिहार में प्रवेश नहीं करेंगे।” मैंने कहा, “अरे नहीं, अपने देश की हवा लेकर फिर से नेपाल आ जाएँगे। छः तारीख तक बाइक का परमिट बना है। छः की शाम को धुर पश्चिम में बनबसा से अपने देश में पुनः प्रवेश करेंगे। वहाँ से तेरे गाँव जाएँगे अमरोहा के पास। ट्यूबवेल में नहाएंगे और आलू के पराठे पके आम के साथ खाएँगे।”

दीप्ति ने कहा, “हाँ।”

और तुरंत अपने घर पर फ़ोन मिला दिया, “हम छः की रात तक घर आएँगे। हमारे लिए खीर और आलू के पराठे तैयार रहने चाहिए। और हाँ, पके आम भी।”

पच्चीसवाँ दिनः नुनथला से ताकशिंदो-ला

2 जून 2016

आठ बजे उठे। मौसम ठीक था। बादल भी थे और गुनगुनी धूप भी थी। आज हमारी ट्रैकिंग का अठारहवाँ दिन था। आज ही आख़िरी दिन भी था। बेसकैंप वास्तव में बहुत दूर है। बेहद थका देने वाला। उन लोगों पर क्या बीतती होगी, जो अपनी ट्रैकिंग जीरी से शुरू करते हैं? इसमें फाफलू के मुक़ाबले कम-से-कम एक सप्ताह और ज़्यादा लगता है। लुकला से ट्रैक आरंभ करने वाले ठीक हैं, हवाई जहाज़ से उतरे, फटाफट ट्रैक निपटाया और हवाई जहाज़ में बैठ गए। भले ही कोई कहे कि वे लोग आनन-फ़ानन में ट्रैकिंग करते हैं, असली ट्रैक का मज़ा नहीं ले पाते। लेकिन हम भुक्तभोगी ही जानते हैं कि हम कितना आनंद ले रहे हैं इसका। किसी तरह यह ख़त्म हो और हमारा पीछा छूटे।

आज चढ़ाई का रास्ता था, इसलिए केवल चाय-बिस्कुट से काम नहीं चलने वाला। दो प्लेट आलू मोमो चाय और कॉफ़ी के साथ खाकर साढ़े नौ बजे चल दिए। ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ते गए, रास्ता ख़राब होता गया। पहले से भी ख़राब। बारिश का असर था यह। कीचड़ ख़ूब मिली।

ट्रैकिंग के पहले दिन जिन स्थानों पर हम रुके थे, जहाँ-जहाँ पानी पीया था, सभी को 'रिमाइंड' करते गए। कोठारी जी भी अदृश्य रूप में साथ थे। यहाँ इस पुल के पास बैठकर हमने कोठारी जी की एक घंटे तक प्रतीक्षा की थी। यहाँ कोठारी जी ने 'तातोपानी' पीया था। यहाँ हमें पहली 'खच्चर-ट्रेन' मिली थी।

इसी तरह करते-करते ताकशिंदो मोनेस्ट्री पहुँच गए। पैनोरमा गेस्ट हाउस की दीवार पर बैठकर उस कोने को देखने लगे, जहाँ कुछ दिन पहले कोठारी जी की राजस्थान नंबर की मोटरसाइकिल तिरपाल ओढ़े खड़ी थी। अब उस कोने में गेस्ट हाउस के मालिक की बाइक खड़ी थी। वह हमें पहचान गया। हाल-चाल पूछा और ट्रैक सही-सलामत पूरा करने की शुभकामना दी। यहीं ताकशिंदो-ला वाले उस होटल का मालिक भी मटरगश्ती कर रहा था, जिसके यहाँ हमारी बाइक खड़ी थी। बोला, "आप चलो, मैं आ रहा हूँ।" मैं इसे नहीं पहचान पाया था, याददाश्त कमज़ोर है। दीप्ति ने पहचान लिया।

बारह बजकर चालीस मिनट पर ताकशिंदो मोनेस्ट्री से चल दिए। आख़िरी चढ़ाई। पीछे मुड़कर देखा। जिन स्थानों को हम जाते समय नहीं जानते थे, वे सभी स्थान अब हमें याद थे। वो नीचे नुनथला है। वो दूधकोसी के पार जुभिंग है, वो खारीखोला है, वो बुपसा है और वो खारी-ला है। काश! कि यहाँ से खारी-ला तक एक 'मेगा-पुल' होता, तो किसी को नीचे दूधकोसी तक उतरने की आवश्यकता न होती! जितनी देर में नुनथला पहुँचते, उतनी देर में खारी-ला पहुँच जाते।

आख़िरी 100 मीटर। मन कर रहा है कि इस अनुभव पर एक अलग किताब लिख दूँ।

और जैसे ही ताकशिंदो-ला का द्वार दिखाई दिया, दीप्ति दौड़कर ऊपर जा पहुँची। मैं यहीं खड़ा रहा। इस द्वार को देखने मात्र से ही इतना सुकून मिल रहा था कि फ़ोटो लेने की भी सुध न रही। लग रहा था कि द्वार में प्रवेश करते ही समाधिस्थ हो जाऊँगा। बादल थोड़े घने हो गए। कुछ बूँदें गिरीं, तब जाकर द्वार पार कर लेने का होश आया।

होटल में कोई भी नहीं था, लेकिन खुला था। मालिक अभी नीचे था। उसे हमारे आने का पता चल गया था। थोड़ी-बहुत देर में वह आ जाएगा। हम डाइनिंग रूम में सोफ़ो पर पड़ गए। इतनी शांति महसूस हो रही थी कि अपनी ही धड़कनें सुनाई पड़ने लगीं। कोई भी बड़ा काम समाप्त कर लेने की अलग ही ख़ुशी होती है, यह ख़ुशी हमें आज महसूस हो रही थी।

एक स्वप्न पूरा हो गया। एवरेस्ट बेसकैंप का ट्रैक न उतना मुश्किल ट्रैक है और न ही दुर्गम। हज़ारों ट्रैकर्स प्रतिवर्ष यहाँ आते हैं, सर्दियों में भी। भारत से भी हज़ारों ट्रैकर्स जाते हैं। लेकिन इसके बावजूद भी सभी ट्रैकर्स यहाँ नहीं आ पाते, कारण चाहे जो भी हो। प्रत्येक ट्रैकर का सपना होता है यहाँ आने का। किसी का पूरा हो जाता है, किसी का नहीं हो पाता। हमारा सपना पूरा हो गया और हम इस ख़ुशी को महसूस कर रहे थे।

मोटरसाइकिल वहीं वैसी ही खड़ी थी, जैसी छोड़कर गए थे। स्टार्ट किया। इंजन भी शायद ताकशिंदो-ला पर होने का जश्न मना रहा था। स्टार्ट नहीं हुआ। न 'सेल्फ' से और न ही किक से। तब इसे चेतावनी दी गई, "ओए, जश्न से बाहर निकल। अब हमारी बारी है जश्न मनाने की।" बमुश्किल इसे जश्न से बाहर निकाला गया। तब तक हमारे आसपास और भी चार प्राणी आ गए थे-होटल मालिक का परिवार।

और जैसे ही इंजन स्टार्ट हुआ, आवाज आई, बच्चे नाचने लगे। क्लच दबाकर पहला गियर लगाया और जब धीरे-धीरे क्लच छोड़ा तो मोटरसाइकिल पूरी तरह अपने जश्न से बाहर निकलकर हमारे जश्न में शामिल हो गई। इंजन बंद करते समय मैंने इसके कान में कहा, "शाब्बाश अभी दस मिनट आराम कर। फिर और जश्न मनाएँगे।"

जब तक चाय-बिस्कुट खाए, बारिश पड़ने लगी। जल्द ही यह मूसलाधार हो गई। होटल मालिक ने पूछा, "आज यहीं रुकोगे?"

"नहीं, अभी समय है। निकलेंगे।"

आधे घंटे बाद जब बारिश थमी तो बाहर पानी भी भर गया और कीचड़ भी हो गया। थोड़ा आगे पैदल गए तो होश ठिकाने आ गए। रास्ते में इतना कीचड़ कि पैदल भी चलना असंभव होता। ढलान पर बाइक नहीं चलेगी। वापस डाइनिंग रूम में आए और मालिक से पूछा, "कौन-सा कमरा ख़ाली है?"

वह हँस पड़ा, "सभी ख़ाली हैं।"

मुझे डर था कि बाइक के क्लच पूरी तरह ख़राब हो गए हैं। वास्तव में ये ख़राब भी हो गए थे। क्लच पूरा छोड़ देने पर ही यह चल पाती थी। इसका क्लच वायर टाइट कर दिया, जिससे अब यह आधा क्लच छोड़ते ही चलने लगी थी। पेट्रोल कम था। पता नहीं फाफलू-

सल्लेरी में पेट्रोल पंप है या नहीं। अगर नहीं हुआ तो अगली संभावना ओखलडुंगा में होने की है। पता नहीं ओखलडुंगा तक जा भी पाएगी या नहीं। और अगर ओखलडुंगा में भी नहीं मिला तो? घुर्मी में पेट्रोल पंप बिकुल नहीं है, हमें पता है। फिर पता नहीं कहाँ होगा! होटल मालिक ने भी बाइक पर हाथ आजमाया, उसके बच्चे भी लालायित थे, लेकिन मना करना पड़ा।

मौसम खुल गया। उत्तर में दूधकुंड की तरफ़ की कई चोटियाँ दिख रही थीं। मैं एवरेस्ट देखने के लालच में ताकशिंदो-ला पर बने द्वार के पास पहुँचा। दूधकोसी घाटी के उस तरफ़ की कई चोटियाँ दिखाई पड़ रही थीं। शायद थमसेरकू भी दिख रही हो। एवरेस्ट की मुझे पहचान नहीं थी। होटल मालिक से पूछा, "एवरेस्ट दिखती है यहाँ से?"

बोला, "नहीं दिखती। लेकिन दो-तीन किलोमीटर दक्षिण में थोड़ी चढ़ाई चढ़कर एवरेस्ट दिख जाती है।"

एवरेस्ट देखने का यह आख़िरी मौक़ा था हमारे पास। बच्चे साथ चलने को तैयार भी थे। लेकिन हम तैयार नहीं हुए। ट्रैकिंग ख़त्म तो ख़त्म।

इसका नाम था 'माउंट कैलाश गेस्ट हाउस'। इसके मालिक की जितनी तारीफ़ करूँ, उतनी कम है। कुछ दिन पहले जब हम यहाँ आए थे, तो कोठारी जी आगे ताकशिंदो मोनेस्ट्री पहुँच गए थे। मैं पैदल जाकर उन्हें अपनी सलामती की ख़बर देने जाने वाला था, लेकिन इसने उस होटल में फ़ोन करके कोठारी जी से बात करा दी थी। इन्हीं छोटी-छोटी बातों से इंसानियत झलकती है। हम तभी से इसके प्रशंसक बन गए थे।

आज समय भी ख़ूब था और हमारे अलावा कोई भी अन्य ट्रैकर नहीं था। इन लोगों को केवल हमारा ही भोजन बनाना था। हमने इच्छा ज़ाहिर की, रसोई में अपनी पसंद का भोजन स्वयं बनाने की। जिसे इन्होंने सहर्ष मान लिया। यह वास्तव में एक बड़ी बात थी, अन्यथा इस ट्रैक पर कोई आपको रसोई में नहीं घुसने देगा।

आलू उबाले और नमक-मिर्च-मसाले डालकर ठेठ उत्तर भारतीय पिट्ठी तैयार कर दी। फिर इसके फ्राइड मोमो बनाने को कह दिया। ये मोमो वास्तव में आलू के पराठे से कम स्वादिष्ट नहीं थे। रसोई में मिर्च-मसाले सब होते हैं, लेकिन पश्चिमी ट्रैकर्स की सुविधा के लिए ये लोग इनका प्रयोग सब्ज़ियों में कम-से-कम करते हैं। मोमो के साथ ही याक के दूध की चाय भी मिली। इसमें से गंध भी आ रही थी और स्वादिष्ट भी नहीं थी, लेकिन हम जानते थे कि पाउडर की चाय से यह ज़्यादा उत्तम है, इसलिए गटागट पी गए।

आज सोते समय बड़ा सुकून था। हमें अब और ट्रैकिंग नहीं करनी पड़ेगी। मोटरसाइकिल उठाएँगे और कल जितनी दूर तक भी जा सकते हैं, जाएँगे। काठमांडू के रास्ते नहीं जाना है और नेपाल से महेंद्रनगर के रास्ते बाहर निकलेंगे।

आज 'आरती' सुनने में विशेष ही आनंद आया- "घर आ जा परदेसी, तेरा देस बुलाये रे।"

छब्बीसवाँ दिन: ताकशिंदो-ला से घुर्मी

3 जून 2016

ट्रैकिंग समाप्त होने का प्रभाव था या कुछ और बात थी, आज छ: बजे ही आँख खुल गई। बाइक की साफ़-सफाई करने और सामान बाँधने में देर नहीं लगी। जो सामान, हेलमेट, पंप आदि हमने यहाँ छोड़ दिए थे, वे सही-सलामत मिल गए और उनका कोई भी अतिरिक्त शुल्क नहीं लिया गया। एक डर था कि बाइक की पंचर किट कोठारी जी के पास थी। अगर हमारी बाइक में पंचर मिला या पंचर हो गया, तो परेशानी हो जाती। लेकिन यह भी बड़ी बात रही कि दोनों पहियों में हवा एकदम ठीक थी।

पौने सात बजे चल दिए।

ताकशिंदो-ला से रिंगमो तक बहुत तेज़ ढलान है। दूरी चार किलोमीटर है और इस दूरी को तय करने में हमें सवा दो घंटे लग गए। इस रास्ते का वर्णन करने का मन नहीं है, लेकिन वर्णन किए बिना मन मान भी नहीं रहा।

यह असल में नया बना रास्ता है। रास्ता क्या है, अभी केवल पहाड़ पर खुदाई हुई है। कच्चा पहाड़ है, पथरीला नहीं है। चिकनी मिट्टी ज़्यादा है। ऊपर ताकशिंदो-ला और उससे भी आगे ताकशिंदो मोनेस्ट्री तक सामान पहुँचाने के लिए ट्रैक्टर चलते हैं। ट्रैक्टर चलते रहने और नमी की अधिकता से रास्ते में गहरी-गहरी लीकें हो गई हैं। इन गहरी लीकों के कारण कोई और गाड़ी नहीं चल सकती। उस दिन जब हम ऊपर आए थे, तो सारा रास्ता सूखा था। बाइक का दम ज़रूर निकल गया था, लेकिन बाइक ऊपर चढ़ गई थी। आज माज़रा उलट था। बारिश हो जाने के कारण ख़ूब कीचड़ थी। लीकों में कीचड़ और पानी भरा था। फिर ढलान और चिकनी मिट्टी। हमारे सामने एक ही विकल्प था- लीक में चलो। लीक से हटकर न खाई की तरफ़ चल सकते थे, फिसलकर खाई में जा गिरने का डर था। और न ही पहाड़ की तरफ़ चल सकते थे- चलते तो फिसलकर अपने आप ही लीक में आ जाते।

ऐसे में दीप्ति बाइक पर नहीं बैठ सकती थी। वह पैदल चल रही थी और उसके दो मुख्य काम थे। पहला, थोड़ा आगे जाकर यह देखना कि बाइक इसी लीक में चलानी ठीक रहेगी या इस लीक से निकालनी पड़ेगी या लीक बदलनी पड़ेगी। क्योंकि कई जगह लीक इतनी गहरी होती कि बाइक का पूरा पहिया उसमें भरे कीचड़ और पानी में डूब जाता। और दूसरा काम था, बाइक को पीछे की ओर खींचना। चिकनी मिट्टी होने के कारण ब्रेक किसी काम के नहीं रह गए थे।

कुछ देर बाद एक समस्या और आई। मड-गार्ड में मिट्टी जमने लगी। चिकनी मिट्टी में

जम जाने का गुण होता है। यह पहियों और मड-गार्ड के बीच में जमने लगी और आख़िर में इसके कारण पहिये घूमने बंद हो गए। पिछला पहिया तो इंजन की शक्ति से घूम भी जाता, लेकिन अगला पहिया बिल्कुल जाम हो गया। यह केवल फ़िसल रहा था। और हमारी मर्ज़ी से नहीं, बल्कि जिधर ढलान होता, उधर फिसलता। इसलिए दीप्ति ने बड़ी मेहनत की, इसे पीछे खींचकर संतुलित रखने में। इस कारण वह कीचड़ में ऊपर तक सन भी गई- कुछ तो कीचड़ में घुसे रहने के कारण और कुछ पिछला पहिया घूमता तो दीप्ति के ऊपर कीचड़ की बौछार कर देता।

रिंगमो पहुँचकर कीचड़ से मुक्ति मिली। पक्की सड़क अभी भी नहीं आई थी, लेकिन गहरी लीक और कीचड़ समाप्त हो गई थी। एक नाले के पास बैठकर आधे घंटे तक मड-गार्ड में फँसी कीचड़ निकाली।

साढ़े नौ बजे रिंगमो से चले और बारह बजे यानी ढाई घंटे बाद 13 किलोमीटर दूर फाफलू पहुँचे। यह ज़्यादातर पथरीला रास्ता है और कई जगह तो बड़े ही डरावने ढलान हैं।

पहली बार जब पक्की सड़क पर चले, तो लगा जैसे बाइक ख़ुशी से नाच रही हो। फाफलू में उसी होटल में पहुँचे, जिसमें हम पहली रात रुके थे। ये लोग हमें तो नहीं पहचान सके, लेकिन हम इस होटल के चप्पे-चप्पे से परिचित थे। दाल-भात का ऑर्डर दिया। जब तक दाल-भात आया, दीप्ति नहाकर और कपड़े बदलकर आ चुकी थी।

फाफलू में पेट्रोल पंप नहीं है, लेकिन तीन किलोमीटर आगे सल्लेरी में पेट्रोल पंप है। गए तो देखा कि यह बंद था। बाइक में इतना पेट्रोल नहीं था कि आगे पत्ताले बाज़ार की चढ़ाई चढ़ सके। इसलिए इसके मालिक की खोजबीन की। थोड़ी-सी मेहनत करने के बाद मालिक का घर मिला, मालकिन घर से पेट्रोल पंप तक आई। कमरे में एक-एक लीटर की अनगिनत बोतलें पेट्रोल की भरी रखी थीं- 135 रुपये प्रति लीटर। हमने छ: लीटर पेट्रोल ले लिया। 810 नेपाली रुपये हुए। मैंने 100-100 के पाँच भारतीय नोट और 10 का एक नेपाली नोट दिया। लड़की ने लेने से मना कर दिया। लेकिन पेट्रोल तो बाइकों में डल चुका था। उसने कहीं फ़ोन पर बात की और प्यारी-सी मुस्कान बिखेरते हुए भारतीय नोट स्वीकार कर लिए।

सोलू नदी पार करके चढ़ाई शुरू हो जाती है। यहाँ क्लच-प्लेट की कमज़ोरी का पता चला। पहले गियर में चीखते हुए किसी तरह बाइक चढ़ तो गई, लेकिन मैंने प्रतिज्ञा कर ली कि दिल्ली पहुँचते ही इसकी क्लच प्लेटों को बदलवाना है। और जब कुछ दिन बाद क्लच-प्लेट बदलवा रहे थे तो मिस्त्री ने बड़ी सुनाई कि बाइक को इतनी बेदर्दी से नहीं चलाया करते। उसे क्या पता था कि यह ताकशिंदो-ला होकर आई है!

3000 मीटर की ऊँचाई पर पत्ताले बाज़ार के पास जब हम सोलूखुंबू जिले से निकलकर ओखलडुंगा जिले में प्रवेश कर रहे थे तो बारिश पड़ने लगी। यह स्थान एक दर्रा है और हमें बड़ा पसंद आया। इसकी प्रशंसा इधर आते समय कोठारी जी भी कर चुके थे। मैं पहले भी लिख चुका हूँ कि नेपाल घूमने वालों को काठमांडू और पोखरा के अलावा पत्ताले बाज़ार को भी अपनी लिस्ट में शामिल करना चाहिए।

यहाँ से आगे ढलान है। ख़ूब बादल थे और गाड़ियों की लाइटें चलानी पड़ रही थीं। पौने पाँच बजे ओखलडुंगा पहुँच गए। अब समय था, थोड़ा आराम करने का और चाय पीने का। चाय के साथ उबले चने और दो अंडे भी ले लिए।

ओखलडुंगा ऊँचाई पर है, घुर्मी नीचे है। वहाँ गर्मी लगेगी। इसलिए एक मन था कि ओखलडुंगा ही रुक जाते हैं। लेकिन आज ही अगर घुर्मी जाते हैं, तो इसका फ़यदा कल मिलेगा।

आख़िरकार पाँच बजे घुर्मी के लिए चल दिए। सात बजे सुनकोसी नदी पार करके घुर्मी पहुँचे। बस अड्डे के पास एक जगह रात रुकने की बात की तो जो जगह मिली, वह हमारी पसंद की नहीं थी। बाँसों के बने छोटे-छोटे कमरे, गंदगी बेशुमार और गर्मी। मजबूरी थी, रुकना पड़ा।

घुर्मी से चालीस किलोमीटर पूरब में हलेसी महादेव नामक स्थान है। नेपाल में इसकी बड़ी मान्यता है। यहाँ एक गुफा है। कहानी है कि भस्मासुर से बचने के लिए भगवान शिव यहीं आकर छुपे थे। ठीक इसी तरह की कहानियों वाली कई गुफ़ाएँ भारत में भी हैं, जिनमें जम्मू में शिवखोरी प्रमुख है।

सत्ताईसवाँ दिन: भारत माता की जय

4 जून 2016

पाँच बजे जैसे ही उजाला हुआ, हम उठ गए और ठीक सवा पाँच बजे बाइक स्टार्ट कर दी।

हम कटारी जाना चाहते थे, जो यहाँ से लगभग 40 किलोमीटर दूर है। कटारी के बाद पहाड़ समाप्त हो जाएँगे और हम नेपाल के प्रमुखतम राजमार्ग पूर्व-पश्चिम राजमार्ग पर आ जाएँगे और आगे महेंद्रनगर तक की यात्रा करेंगे। मैदानी भाग होने के कारण हमें स्पीड भी अच्छी मिलेगी। घुर्मी से महेंद्रनगर 870 किलोमीटर दूर है। हमारी बाइक का परमिट केवल 5 जून तक ही था यानी कल तक। हमें अपनी 'लिमिट' पता है, दो दिनों में हम इतनी दूरी तय नहीं कर सकते। इसलिए बीच रास्ते में ही या तो हमें परमिट नवीनीकरण कराना पड़ेगा या फिर भारत में प्रवेश कर लेना है। परमिट नवीनीकरण कल या तो सोनौली में करेंगे या फिर नेपालगंज में।

पता चला कि घुर्मी से कटारी तक रास्ता ख़राब है। नेपाल में पहाड़ में ख़राब रास्ते का मतलब है बहुत तेज़ ढलान या बहुत तेज़ चढ़ाई। बाइक इस लायक नहीं थी कि ख़राब रास्ते पर बहुत तेज़ चढ़ाई चढ़ सके। इसलिए कटारी से जाने का इरादा त्याग दिया। अब हम खुरकोट और सिंधुली के रास्ते जाएँगे। खुरकोट से हम इसी रास्ते से आए थे, इसलिए हमें पता था कि रास्ता बहुत अच्छा है।

घुर्मी से सात किलोमीटर तक ख़राब रास्ता है, फिर सात किलोमीटर अच्छा है, फिर बारह किलोमीटर ख़राब है और उसके बाद बहुत अच्छा है। रास्ता सुनकोसी के साथ-साथ है, इसलिए कहीं कोई उतार-चढ़ाव नहीं है। आठ बजे ग्वालटार पहुँचे। एक रेस्टॉरेंट के सामने बाइक रोक दी। फ्रेश होना था और नाश्ता भी करना था।

यहाँ से नौ बजे के आसपास चल दिए। थोड़ी ही देर में खुरकोट पहुँच गए। बाइक में पेट्रोल डलवाना था, खुरकोट में पेट्रोल पंप है। 805 रुपये का आठ लीटर पेट्रोल आया। मैंने 100-100 के पाँच भारतीय नोट और 5 का एक नेपाली नोट दिया। उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिए।

लगभग पूरे नेपाल में भारतीय मुद्रा चलती है। हमारे सामने मुद्रा का संकट अक्सर नहीं आता।

खुरकोट से काठमांडू वाली सड़क छोड़कर हम सिंधुली जाने वाली सड़क पर चल दिए। इस सड़क की तारीफ़ मैं पहले भी कर चुका हूँ। काठमांडू से सिंधुली होते हुए बारडीबास तक जाने वाली यह सड़क जापानी सहयोग से बनाई गई है और उत्कृष्ट इंजीनियरी का प्रदर्शन किया गया है। यह सड़क नेपाल की शान है। खुरकोट समुद्र तल से 500 मीटर ऊपर

है जबकि सिंधुलीगढ़ी 1400 मीटर। इसलिए सिंधुलीगढ़ी तक चढ़ाई रहती है, उसके बाद उतराई शुरू हो जाती है। सिंधुली में ठंडा वातावरण था। इस मार्ग पर सिंधुली से काठमांडू, बारडीबास से काठमांडू और जनकपुर से काठमांडू तक ख़ूब बसें चलती हैं। ज़्यादातर 'ट्रैवलर' बसें हैं- ए.सी. और नॉन-ए.सी. दोनों।

रास्ते में इतने शानदार नज़ारे आते कि बाइक बार-बार रोकनी पड़ती। मैं एक बार फिर दोहरा रहा हूँ- यदि आप अपनी गाड़ी से या बाइक से नेपाल घूमने जा रहे हैं तो इस मार्ग को न भूलें। ऐसा शानदार मार्ग मैंने अभी तक भारत में भी नहीं देखा है। और हाँ, इस मार्ग पर कोई टोल भी नहीं लगता।

साढ़े ग्यारह बजे बारडीबास पहुँच गए। यह स्थान मैदान में है और गर्मी बेतहाशा। यहाँ हमें नेपाल का पूर्व-पश्चिम राजमार्ग मिल गया और दाहिने मुड़ गए। रास्ते में एक छोटे-से गाँव में छोटी-सी दुकान पर 'स्लाइस' पी। गर्म मौसम में ठंडी 'स्लाइस' बहुत राहत दे गई। काँच की चार बोतलों के 140 रुपये लगे। हमने 100 का भारतीय नोट दिया, उन्होंने 20 नेपाली वापस दे दिए।

रास्ते में घना जंगल मिला, तराई का जंगल। एक जगह आराम करने रुके तो सड़क किनारे धुर से धुर तक छुईमुई के पौधे मिले। हम आराम करना भूलकर छुईमुई छेड़ने में लग गए।

तीन बजे पथलैया पहुँचे। यहाँ से बाएँ सड़क बीरगंज जाती है, जहाँ से सीमा पार करके रक्सौल है। दूरी लगभग 20 किलोमीटर। दाहिने सड़क हेटौड़ा होते हुए काठमांडू जाती है। मैंने सुन रखा था कि बिहार में आजकल अच्छी सड़कों का जाल बिछा हुआ है। मन किया कि यहीं से अपने देश में प्रवेश कर जाते हैं। लेकिन रक्सौल से मोतीहारी की सड़क कैसी है, इसका अंदाज़ा नहीं था। मोतीहारी के बाद अच्छी सड़क है, यह पता था। यह जानकारी लेने के लिए मोतीहारी के रहने वाले एक सहकर्मी को अपने नेपाली नंबर से कई बार फ़ोन किया। उसने नहीं उठाया। बाद में पता चला कि नेपाली नंबर देखकर वह घबरा गया था, इसलिए जानबूझकर फ़ोन नहीं उठाया। किसी और मित्र को फ़ोन नहीं किया। यही बात फ़ेसबुक पर डाली। मिली-जुली प्रतिक्रिया मिली। आख़िरकार रक्सौल से जाना छोड़कर हम हेटौड़ा की तरफ़ मुड़ गए। वहाँ से सोनौली जाएँगे।

पथलैया से हेटौड़ा की 30 किलोमीटर की दूरी में भयानक ट्रैफ़िक मिला। क्या बसें और क्या ट्रकें, सभी में होड़ मची थी कि कौन ज़्यादा धुआँ छोड़े। इस मार्ग में भारतीय ट्रक भी ख़ूब मिले। ज़्यादातर हरियाणा नंबर के थे। वे पूर्वी नेपाल से आ रहे थे और सोनौली से ही भारत में प्रवेश करेंगे। इन्हें देखकर हमें भी लगा कि रक्सौल न जाकर ठीक ही किया।

एक दुकान में एक पोस्टर लगा था। नेपाल के नक़्शे के ऊपर तिकोना नेपाली झंडा था। बराबर में लिखा था- नेपाल आमाको जय। अर्थात नेपाल माता की जय। स्वदेश को माता मानने वाले हम भारतीय ही नहीं हैं, नेपाली भी इसे माता मानते हैं।

हेटौड़ा में कुछ हल्का-फुल्का खाने के लिए रुके। ज़्यादातर दुकानें यूपी-बिहार वालों की थीं। भारतीय बसें और भारतीय पर्यटक भी ख़ूब थे। कुछ गाड़ियाँ गुजरात की भी थीं।

हेटौड़ा से बाएँ मुड़ गए। सीधी सड़क काठमांडू जाती है। अब ट्रैफ़िक समाप्त हो गया और

ख़ाली सड़क मिली। एक बार फिर बाइक हवा से बातें करने लगी। मेरे लिए हवा से बातें करने का अर्थ है, ख़ाली सड़क पर 70-80 की स्पीड से चलना। ख़राब क्लच-प्लेट होने के बावजूद भी बाइक अच्छी दौड़ रही थी, इसके लिए मैं इसे धन्यवाद देता हूँ।

साढ़े छ: बजे नारायणगढ़ पहुँच गए। एक बार फिर से काठमांडू का ट्रैफ़िक आ मिला। काठमांडू से पश्चिमी नेपाल और सोनौली के रास्ते भारत जाने वाला सारा ट्रैफ़िक यहीं से होकर जाता है। हम कुछ दिन पहले यहीं से काठमांडू गए थे। यहाँ से सोनौली 120 किलोमीटर है। हमें कम-से-कम तीन घंटे लगेंगे।

हमारे पास पैसों की कमी हो गई थी। चाहते तो ए.टी.एम. से आसानी से निकाल सकते थे। लेकिन ऐसा नहीं किया। तय किया कि बाइक के परमिट का नवीनीकरण नहीं कराएँगे और आज ही स्वदेश प्रवेश कर लेंगे। सीमा पार करके ही ए.टी.एम. का प्रयोग करेंगे।

खुरकोट में डलवाया आठ लीटर पेट्रोल समाप्ति की ओर था और हमें स्वदेश प्रवेश नहीं करवा सकता था। इसलिए 200 रुपये का 2 लीटर पेट्रोल नारायणगढ़ से ले लिया। अगर जेब में ज़्यादा पैसे होते तो हम ज़्यादा पेट्रोल ले लेते।

सीमा पार करते-करते रात के नौ साढ़े नौ बज जाएँगे। फिर हम कहाँ रुकेंगे? फरेंदा में रहने वाली बुआ की ग्रीष्मकालीन छुट्टियाँ आरंभ हो चुकी थीं और वे अपने गाँव चली गई थीं। फिर याद आए गोरखपुर के रहने वाले विमलेश चंद्र जी, जो फ़िलहाल पश्चिमी रेलवे भावनगर डिवीजन में कार्यरत हैं। उनके भाई फरेंदा में रहते हैं। उन्होंने आश्वासन दे दिया कि किसी भी समय जाओ, बिस्तर लगा मिलेगा और खाना भी तैयार मिलेगा।

आधा घंटा चोरमारा रुके। उसी दुकान पर चाय-समोसे-जलेबी खाए। चले तो आठ बज चुके थे और अँधेरा हो गया था। दिन छिपने के बाद बाइक चलाना पसंद न होने के बावजूद भी आज ऐसा करना पड़ा। अच्छा-ख़ासा ट्रैफ़िक था, ज़्यादातर ट्रकों का। बिना डिवाइडर की सड़क है, इसलिए धीरे चल रहे ट्रकों को ओवरटेक करना कई बार मुश्किल होता- सामने से आ रहे भारी ट्रैफ़िक के कारण।

परासी के पास पुलिस ने रोक लिए। बाइक के काग़ज़ देखे, परमिट देखा। परमिट के दिनों का हिसाब लगाया और जाने दिया। इसके बाद सिद्धार्थनगर बाईपास पर जब सोनौली की ओर मुड़े, फिर पुलिस ने रोक लिया। पौने दस बजे थे। हमें जानकारी थी कि बॉर्डर रात दस बजे बंद हो जाता है, इसलिए हम दस बजने से पहले सीमा पार कर लेना चाहते थे। यहाँ पुलिस वालों ने काग़ज़ देखने से पहले पूछा- “कहाँ से आ रहे हो?”

“सोलूखुंबु से।”

“अरे बाप रे! इतनी दूर से? उधर तो बहुत ख़राब सड़क है।”

“हाँ, बहुत ख़राब है।”

“कैसा लगा नेपाल?”

“बहुत अच्छा लगा।”

“ठीक है, जाओ।”

सीमा पर दोनों देशों के द्वार खुले थे। भीड़भाड़ नहीं थी। हल्की चहल-पहल थी। बाइक

की रोशनी में द्वार पर चमचमा रहा था-

"भारत आगमन पर आपका हार्दिक स्वागत है।"

नेपाल की एक बस भारत में प्रवेश कर रही थी। इसमें तीर्थयात्री ही होंगे। सुबह तक ये लोग सारनाथ पहुँच जाएँगे। एस.एस.बी. का एक जवान कुर्सी-मेज़ डाले द्वार के पास बैठा था। कुछ विदेशी उसे घेरे खड़े थे। उनके सामानों और काग़ज़ात की जाँच हो रही थी।

हम धीरे से नेपाल के द्वार से बाहर निकल गए। 'नो मैन्स लैंड' में पहुँचे और उतने ही धीरे से भारतीय द्वार में प्रवेश कर गए। किसी ने हमारी तरफ़ देखा तक नहीं। नेपाली बाइक भारत में और भारतीय बाइक नेपाल में दिनभर आती-जाती रहती हैं।

अब हम भारत में थे। अपने देश में थे। चाहे यह जैसा भी हो, इसके नागरिक जैसे भी हों, लेकिन है तो हमारा अपना ही। चौबीस दिन नेपाल में रहकर हमें अपने देश की सख़्त ज़रूरत महसूस होने लगी थी।

नेपाली सिम निकालकर भारतीय सिम डाल लिया। फ़ेसबुक पर पहला संदेश भेजा-

'भारत माता की जय।'